CC0. In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

श्रमण

ŚRAMAṆA

स्वर्णजयन्ती वर्ष

अप्रैल - जून, १९९९ ई०

पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी

PĀRŚVANĀTHA VIDYĀPĪṬHA, VARANASI.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Pick a *PINKY*
and
let your writing sparkle

LION
PINKY

the Prettiest Pencil
in town

Now from Lion Pencils
here's another novelty....

the Pearl finished LION PINKY Pencil,
a pretty pencil to behold.
Superb in looks, super smooth in writing with its
HB Lead strongly bonded to give you unbreakable
points.

Also available with rubber tip and hexagonal

Other popular brands of
Lion Pencils are :
Lion MOTO, Lion TURBO, Lion SWEETY,
Lion CONCORD, Lion EXCUTIVE and
Lion GEEMATIC Drawing Pencils

LION PENCILS LTD.

Parijat, 95 Marine Drive.
BOMBAY - 400 002

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0. In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

श्रमण

पार्श्वनाथ विद्यापीठ की त्रैमासिक शोध-पत्रिका

वर्ष 50, अंक 4-6 अप्रैल-जून 1999

प्रधान सम्पादक
प्रोफेसर सागरमल जैन

सम्पादक
डॉ. शिवप्रसाद

प्रकाशनार्थ लेख-सामग्री, समाचार, विज्ञापन एवं सदस्यता आदि के लिए सम्पर्क करें

सम्पादक
श्रमण
पार्श्वनाथ विद्यापीठ
आई.टी.आई. मार्ग, करौंदी
पो.आ.-बी.एच.यू.
वाराणसी-221005 (उ.प्र.)

दूरभाष : 316521, 318046
फैक्स : 0542-318046

ISSN 0972-1002

वार्षिक सदस्यता शुल्क

संस्थाओं के लिए	:	रु. 150.00
व्यक्तियों के लिए	:	रु. 100.00
इस अंक का मूल्य	:	रु. 25.00

आजीवन सदस्यता शुल्क

संस्थाओं के लिए	:	रु. 1000.00
व्यक्तियों के लिए	:	रु. 500.00

नोट : सदस्यता शुल्क का चेक या ड्राफ्ट केवल पार्श्वनाथ विद्यापीठ के नाम से ही भेजें।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

श्रमण

प्रस्तुत अङ्क में

लेख पृष्ठसंख्या

आचाराङ्ग के कुछ महत्त्वपूर्ण सूत्र : एक विश्लेषण १-१०
डॉ० सुरेन्द्र वर्मा

प्रेक्षाध्यान एवं भावातीत ध्यान : एक चिन्तन डॉ० सुधा जैन ११-१६

यशस्तिलक चम्पू में आयुर्वेदीय स्वस्थवृत्त सम्बन्धी विषय १७-२६
आचार्य राजकुमार जैन

प्राकृत वैद्यक (प्राकृत भाषा की आयुर्वेदीय अज्ञात जैन रचना) २७-५१
कुन्दन लाल जैन

आचार्य हरिभद्रसूरिप्रणीत उपदेशपद एक अध्ययन ५२-६६
डॉ० फूलचन्द जैन 'प्रेमी'

श्री जिनेन्द्र वर्णीजी द्वारा प्रणीत 'पदार्थ विज्ञान' और उसकी विवेचन शैली ६७-७२
डॉ० कमलेश कुमार जैन

गुरु का स्वरूप : गुरुतत्त्वविनिश्चय के विशेष सन्दर्भ में ७३-८५
डॉ० विजय कुमार जैन

महावीर के सिद्धान्त : वर्तमान परिप्रेक्ष्य ८६-९०
डॉ० श्रीरंजन सूरिदेव

शर्की-कालीन हिन्दी साहित्य के विकास में बनारसी दास का अवदान ९१-९५
डॉ० राजदेव दुबे

प्राचीन भारत के प्रमुख तीर्थस्थल : बौद्ध और जैनधर्म के विशेष सन्दर्भ में (शोधप्रबन्ध-सार) राजेश कुमार ९६-१०१

जैन दर्शन में सृष्टि की अवधारणा अतुल कुमार प्रसाद सिंह १०२-१११

विधिपक्ष अपरनाम अंचलगच्छ (अचलगच्छ) का संक्षिप्त इतिहास ११२-१५३
शिव प्रसाद

आधुनिक सन्दर्भों में तीर्थङ्कर-उपदेशों की प्रासङ्गिकता १५४-१५८
अनिल कुमार

Vasanta In Prakrit Literature १५९-१७७
Dr. Veneemadhavashastri Joshi

साहित्य-सत्कार १७८-१९१

जैन-जगत् १९२-२०२

निबन्ध प्रतियोगिता २०३-२०५

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आचाराङ्ग के कुछ महत्त्वपूर्ण सूत्र : एक विश्लेषण

*डॉ०सुरेन्द्र वर्मा**

देखो और समझो ('पास')

महावीर का समस्त दर्शन अमूर्त चिन्तन का परिणाम न होकर सहज प्रत्यक्षीकरण पर आधारित है। यह आवश्यक नहीं है कि जो कुछ भी महावीर कहते हैं उसे आँख बन्द कर सही मान ही लिया जाए। वे बार-बार हमें संसार की गतिविधियों को स्वयं 'देखने' के लिए कहते हैं। ('देखने' के लिए प्राकृत भाषा में 'पास' शब्द का प्रयोग हुआ है जो वस्तुत: 'पश्य' (सं०) धातु से आया है।) और इस प्रकार स्वतन्त्र रूप से उन निष्कर्षों पर पहुँचने के लिए प्रेरित करते हैं जो स्वयं महावीर ने अपने अनुभव और प्रत्यक्ष से फलित किए हैं।

महावीर का यह आग्रह कि हम संसार की गतिविधियों को स्वयं ही देखें, एक ओर जहाँ स्वतन्त्र चिन्तन पर बल देता है, वहीं दूसरी ओर दार्शनिक विचार को केवल अमूर्त सोच और किताबी ज्ञान से मुक्त करता है।

महावीर हमें आमन्त्रित करते हैं कि हम देखें कि इस संसार में सभी जीव एक दूसरे को दुःख पहुँचाते हैं, इससे समस्त प्राणी जगत् एक आतंकित स्थिति में जीने के लिए अभिशप्त हैं, वे कहते हैं —

पाणा पाणे किलेसंति।
पास लोए महब्भयं। (पृ० २३०/१३-१४)*

---

*. पूर्व उपनिदेशक — पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी।

*. इस आलेख कि सभी उद्धरण, मुनि नथमल द्वारा सम्पादित और जैन विश्वभारती लाडनूं, द्वारा प्रकाशित आयारो से लिए गए हैं। पृष्ठ संख्या के बाद गाथा क्रमांक डाला गया है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

'पाणा पाणे किलेसति' — यह एक तथ्य है कि प्राणी, प्राणियों को क्लेश पहुँचाते हैं, लेकिन महावीर यहाँ जिस बात की ओर हमें विशेषकर संकेत करते हैं वह यह है कि प्राणियों का एक-दूसरे के प्रति ऐसा व्यवहार संसार में महाभय व्याप्त करता है उनकी चिन्ता है कि आतंक से आख़िर प्राणियों को किस प्रकार छुटकारा प्राप्त कराया जाए।

जहाँ तक मनुष्य का सम्बन्ध है, एक विचारशील प्राणी होने के नाते, उससे तो यह अपेक्षा की ही जा सकती है कि वह कम से कम इस आतंक का कारण न बने। लेकिन ऐसा वस्तुत: है नहीं। बल्कि इस महाभय को प्रश्रय देने में मनुष्य का योगदान शायद सबसे अधिक ही हो। महावीर संकेत करते हैं कि तनिक आतुर व्यक्तियों को देखो तो। वे कहीं भी क्यों न हों, हर जगह प्राणियों को परिताप देने से बाज़ नहीं आते—

तत्थ-तत्थ पुढो पास, आतुरा परितावेंति। (८/१५)

ये आतुर लोग आख़िर हैं कौन? सामान्यत: हम सभी तो आतुर हैं। वह बीमार मानसिकता जो व्यक्ति को अधीर बनाती है वस्तुत: उसकी देहासक्ति है। हम आतुर मनुष्य कहें, आसक्त कहें— बात एक ही है। महावीर कहते हैं, इसलिए आसक्ति को देखो। इसका स्वरूप ही ऐसा है कि वह हमारे मार्ग में सदैव रोड़ा बनती है और फिर भी हम उसकी ओर खिंचे ही चले जाते हैं —

तम्हा संगं ति पासह।

गंथेहिं गढिया णरा, विसण्णा कामविप्पिया। (२५२/१०८-१०९)

महावीर हमें यह देखने के लिए निर्देश देते हैं कि वे लोग जो देहासक्त हैं, पूरी तरह से पराभूत हैं। ऐसे लोग बार-बार दुःख को प्राप्त होते हैं। वस्तुत:, वे बताते हैं, इस जगत् में जितने लोग भी हिंसा-जीवी हैं, इसी कारण से हिंसा-जीवी हैं। देह और दैहिक विषयों के प्रति व्यक्ति का लगाव ही हिंसा का कारण है—

पासह एगे रूवेसु गिद्धे परिणिज्जमाणे।

एत्थ फासे पुणो पुणो।

आवंती केआवंती लोयंसि आरंभजीवी, एएसु चेव आरंभजीवी।

(१७८/१३-१५)

महावीर कहते हैं कि संसार में व्याप्त आतंक और महाभय जिस व्यक्ति ने देख और समझ लिया है, वही हिंसा से निवृत्त होने में सफल हो सकता है (पृ० ४३/१४६, १४५)। आतुर लोग जहाँ स्थान-स्थान पर परिताप देते हैं, वहीं दूसरी ओर देखो कि

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

साधुजन संयम का जीवन जीते हैं। **लज्जमाणा पुढो पास!** (पृ० ८/१७)। ऐसे शान्त और धीर व्यक्ति देहासक्ति से मुक्त होते हैं — **इह संति गया दविया** (पृ० ४२/१४९)।

संक्षेप में महावीर हमें आमन्त्रित करते हैं कि हम प्रत्यक्षत: देखें कि संसार में हिंसा के कारण जो आतंक व्याप्त है उसका मूल देहासक्ति में है और इस आसक्ति को समाप्त करने के लिए संयम आवश्यक है। वे इस सन्दर्भ में साधुओं को लक्षित करते हैं और कहते हैं कि देखो, उन्होंने किस प्रकार हिंसा से विरत होकर संयम को अपनाया है। ऐसे लोग ही हमारे सच्चे मार्गदर्शक हैं।

क्षण को पहचानो और प्रमाद न करो

महावीर कहते हैं कि हे पण्डित! तू क्षण को जान— **खणं जाणाहि पंडिए** (७४/२४)।

यह जैनदर्शन का एक बहुत महत्त्वपूर्ण सूत्र है। प्रश्न किया जा सकता है कि यहाँ 'क्षण' से क्या आशय है? 'क्षण' मनुष्य की यथार्थ स्थिति की ओर संकेत करता है जो कम से कम सन्तोषजनक तो नहीं ही कही जा सकती। यदि हम अपनी और संसार की वास्तविक दशा की ओर ग़ौर करें तो हमें स्पष्ट समझ में आ जाएगा कि—

(१) यह संसार परिवर्तनशील है और यह सदैव एक-सा नहीं बना रहता। आज व्यक्ति यौवन और शक्ति से भरपूर है; किन्तु कल यही व्यक्ति वृद्ध और अशक्त हो जाएगा। आयु बीतती चली जा रही है और उसके साथ-साथ यौवन भी ढलता जा रहा है — **वयो अच्चेइ जोव्वणं च** (७२/१२)।

(२) दुःख और सुख व्यक्ति का अपना-अपना होता है, इसे भी समझ लेना चाहिए। **जाणित्तु दुक्खं पत्तेयं सायं,** (७४/२२)। अत: यह सोचना कि कोई भी अन्य व्यक्ति/परिजन विपरीत स्थितियों में व्यक्ति का सहायक हो सकता है, केवल भ्रम मात्र है। न तो हम दूसरों को त्राण या शरण दे सकते हैं और न ही दूसरे हमें त्राण या शरण दे सकते हैं।

नालं ते तव ताणाए वा, सरणाए वा।

तुमं पि तेसिं नालं ताणाए वा, सरणाए वा। (७२/८)

(३) परिस्थितियाँ बहुत कठिन हैं। व्यक्ति दिन-ब-दिन दुर्बल होता जा रहा है, उसे किसी भी क्षण मृत्यु घेर सकती है। बहुत ही कलात्मक भाषा में कहा गया है — **णत्थि कालस्य णागमो** (८२/६२) — मृत्यु के लिए कोई भी क्षण अनवसर नहीं है और फिर भी व्यक्ति अपने जीवन से अत्यधिक लगाव पाले हुए है। वह अपने दैहिक सुख के अनेक साधनों को जुटाता है और समझता है यह अर्थार्जन उसे सुरक्षा प्रदान

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कर सकेगा। वह धन एकत्रित करने के लिए स्वयं चोर और लुटेरा बन जाता है; किन्तु एक समय ऐसा भी आता है कि चोर और लुटेरे ही उसका धन छीन ले जाते हैं और इस प्रकार सुख का अर्थी वस्तुतः दुःख को प्राप्त होता है (८४/६९)। संसार की इस निःसारता को समझना ही 'क्षण' को पहचाना है।

अतः महावीर कहते हैं धैर्यवान् पुरुषों को अवसर की समीक्षा करनी चाहिए और मुहूर्तभर भी प्रमाद नहीं करना चाहिए। **अंतरं च खलु इमं संपेहाए– धीरे मुहुत्तमवि णो पमायए** (७२/११)। वस्तुतः जिस व्यक्ति ने क्षण को पहचान लिया है वह एक पल का भी विलम्ब किए बिना अपनी जन्म-मरण की स्थिति से मुक्ति के लिए प्रयास आरम्भ कर ही देगा। कौशल इसी में है। इसीलिए महावीर कहते हैं — कुशल को प्रमाद से क्या प्रयोजन? **अलं कुसलस्स पमाएणं** (८८/९५) और वे निर्देश देते हैं कि उठो और प्रमाद न करो — **उट्ठिए णो पमायए** (१८२/२३)।

'प्रमाद' किसे कहते हैं? प्रमाद न करने का क्या अर्थ है? जो पराक्रम करता है, प्रमाद नहीं करता। महावीर पराक्रम के लिए प्रेरित करते हैं, प्रमाद के लिए नहीं। महावीर के दर्शन में पराक्रम का अर्थ है — क्रोध, मान, माया और लोभ आदि कषायों को शान्त कर देना, शब्द और रूप में आसक्ति न रखना तथा पूरी तरह अप्रमत्त हो जाना (देखें, ३३८/१५)। वैसे भी प्रमाद छः प्रकार के बताए गए हैं — १. मद्य प्रमाद, २. निद्रा-प्रमाद, ३. विषय प्रमाद, ४. कषाय प्रमाद, ५. द्युत-प्रमाद तथा ६. निरीक्षण (प्रतिलेखना) प्रमाद (स्थानांगसूत्र, ६/४४)। इन सभी प्रकार के प्रमादों से बचना ही पराक्रम है और यह पराक्रम व्यक्ति को स्वयं ही दिखाना है। इसके लिए उसे किसी अन्य से कोई सहायता प्राप्त होने वाली नहीं है।

अतः प्रमाद न करने का एक अर्थ यह भी है कि व्यक्ति अपनी मुक्ति के लिए स्वयं ही प्रयत्न करे। पुरुषार्थ और पराक्रम वस्तुतः मानव-प्रयत्न में है। जैनदर्शन ने किसी भी अतिप्राकृतिक और दैवी शक्ति, जिसे हम प्रायः 'ईश्वर' कहते हैं, में विश्वास नहीं किया है। मनुष्य अकेला आया है और अकेला ही जाएगा। उसे किसी अन्य से— ईश्वर से भी— कोई सहायता प्राप्त होने वाली नहीं है। मनुष्य का एकमात्र मित्र मनुष्य स्वयं ही है। किसी मित्र या सहायक को अपने से बाहर खोजने की आवश्यकता नहीं है। महावीर कहते हैं— **पुरिसा! तुममेव तुमं मित्तं, किं बहिया मित्तमिच्छसि?** (१३६/६२) अतः उठो और प्रमाद न करो! अनन्य और परम पद प्राप्त करने हेतु क्षणभर प्रमाद न करो— **अणण्णपरमं नाणी, णो पमाए कयाइ वि** (१३४/५६)।

जब तक कान सुनते हैं और आँखें देखती हैं, नाक सूंघ सकती है और जीभ रस प्राप्त कर सकती है, जब तक स्पर्श की अनुभूति अक्षुण्य है— इन नानारूप इन्द्रिय ज्ञान के रहते पुरुष के लिए, यह अपने ही हित में है, कि वह सम्यक् अनुशीलन करे

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

(७४/७५)। बाद में यह अवसर नहीं आएगा। हे पण्डित, तू क्षण को जान और प्रमाद न कर।

मेधावी बनाम मन्दमति

आयारो में मनुष्य के दो स्पष्ट प्रारूप बताए गए हैं — मेधावी और मूढ़ या मन्दमति।

प्रथम दृष्टि में ऐसा प्रतीत होता है मेधावी और मूढ़ मानव बुद्धि का एक माप है जिसके एक छोर पर 'मेधावी' और दूसरे छोर पर 'मन्द-मति' है। लेकिन वस्तुतः ऐसा है नहीं। यह मानव बुद्धि का पैमाना न होकर व्यक्तियों के दो वर्ग हैं। मेधावी व्यक्तियों की कुछ नैतिक-चारित्रिक विशेषताएँ हैं जो मन्दमति व्यक्तियों से भिन्न और उनकी विरोधी हैं।

मन्दमति लोग मोह से आवृत्त होते हैं। ये आसक्ति में फंसे हुए लोग हैं — **मंदा मोहेण पाउडा** (७६/३०)। दूसरी ओर मेधावी पुरुष मोह और आसक्ति को अपने पास फटकने नहीं देते। वे इन सबसे निवृत्त होते हैं। **अरिइं आउट्टे से मेहावी** (७६/२७)— जो अरति का— चैतविक उद्वेगों का— निवर्तन करता है, वही मेधावी है। आसक्ति मनुष्य को बेचैन करती है, अशान्त करती है उसे व्यथित और उद्वेलित करती है। किन्तु मेधावी पुरुष वह है जो न चिन्तित होता है, न व्यथित या उद्वेलित। वह सभी उद्वेगों को अपने से बाहर निकाल फेंकता है, उनसे निवृत्ति पा लेता है।

'अरति' (अरइ) का अर्थ जहाँ एक ओर बेचैनी और अशान्ति से है, वहीं दूसरी ओर, विरक्ति या राग के अभाव को भी 'अरति' कहा गया है; किन्तु 'अरिइं आउट्टे' राग के अभाव से निवृत्ति नहीं हैं, वह तो स्वयं राग से— असंयम से— निवृत्ति है। संयम में रति और असंयम में अरति करने से चैतन्य और आनन्द का विकास होता है। संयम में अरति और असंयम में रति करने से उसका ह्रास होता है। 'अरिइं आउट्टे' संयम से होने वाली 'अरति' (विरक्ति) का निवर्तन है (पृ० १०९)। **असंज मे नियत्तिं च, संजमे य पवत्तणं।**

जो व्यक्ति मन्दमति है, सतत मूढ़ है। वह धर्म को नहीं समझता। **सततं मूढे धम्मं णाभिजाणइ** (८८/९३)। दूसरी ओर जो व्यक्ति आज्ञा (धर्म) में श्रद्धा रखता है, वह मेधावी है — **सड्ढी आणाए मेहावी** (१४०/८०)। मेधावी सदा धर्म का पालन करता है और निर्देश का कभी अतिक्रमण नहीं करता। **णिद्देसं णातिवट्टेज्जा मेहावी** (२०२/११५)।

आयारो में मेधावी, धीर, वीर आदि शब्द लगभग समानार्थक हैं, जो मेधावी नहीं है, वह मन्दमति है; जो धीर नहीं है वह आतुर है; जो वीर नहीं है, वह कायर

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

है। संसार में दो प्रकार के व्यक्ति हैं। एक वर्ग मेधावी, धीर और वीर पुरुषों का है और दूसरा मन्दमति, आतुर और कायर लोगों का है, जो मेधावी हैं वे धीर भी हैं। जो मन्दमति हैं वे आतुर और कायर भी हैं।

वीर पुरुष कौन है? वीर पुरुष हिंसा में लिप्त नहीं होता — **ण लिप्पई छणपएण वीरे** (१०६/१८०) और मेधावी अहिंसा के मर्म को जानता है— **से मेहावी अणुग्घायणस्स खेयण्णे** (१०६/१८१)। इसके विपरीत कायर मनुष्य हिंसक होते हैं; विषयों से पीड़ित, विनाश करने वाले, भक्षक और क्रूर होते हैं। हिंसा की अपेक्षा से कायर दुर्बल नहीं है और न ही वीर बलवान् है। **बसट्टा कायरा जणा लूसगा भवंति** — विषयों में लिप्त कायर व्यक्ति 'लूषक' (हिंसक, भक्षक, प्रकृति-क्रूर) होता है।

धीर पुरुष धैर्यवान् हैं। आतुर अधीर हैं। आतुर लोग हर जगह प्राणियों को दुःख और परिताप देते हैं, इसे स्पष्ट देखा जा सकता है — **तत्थ-तत्थ पुढो पास, आतुरा परितावेंति** (८/१५)। इसका कारण है आतुर मनुष्य आसक्ति से ग्रस्त होता है। यही आसक्ति मनुष्य को आशा/निराशा के झूले में झुलाती है और उसे स्वेच्छाचारी बनाती है; किन्तु धीर पुरुष वह है, जो इस आशा और स्वच्छन्दता को छोड़ देता है — **आसं च छंदं च विगिंच धीरे** (८८/८६)।

आयारो जब मनुष्य के दो विपरीत गुण-धर्मी प्ररूपों का उल्लेख करता है, तो क्या वह इनको पूर्णतः एकान्तिक मानता है? क्या मेधावी सदैव मेधावी और मन्दमति पूर्णतः मन्दमति ही रहता है? स्पष्टतः 'मेधावी' और 'मूढ़' एकान्तिक प्ररूप नहीं हैं। आयारो में स्पष्ट दिखाया गया है कि मेधावी पुरुष भी किस प्रकार च्युत होकर पुनः मन्दमति या मूढ़ हो जाते हैं। उत्तरोत्तर आने वाले दुःसह परीषहों को सहन न कर पाने के कारण (२३४/३२) वे अपना प्रयत्न द्वारा अर्जित किया हुआ मुनि-पद छोड़ देते हैं। इसी प्रकार मेधावी आरम्भ से ही मेधावी नहीं होते। वे उत्तरोत्तर ही इस दिशा की ओर अग्रसर होते हैं।

वस्तुतः मेधावी पुरुष ही मुनि है। मुनि का अर्थ है ज्ञानी। **आयारो** के अनुसार जो पुरुष अपनी प्रज्ञा से लोक (संसार) को जानता है वह मुनि कहलाता है। ऐसा व्यक्ति धर्मवित् और ऋजु होता है — **पण्णाणेहिं परियाणइ लोयं मुणीति वच्चे, धम्मविउत्ति अंजू** (१२२/५) मुनि को 'कुशल' भी कहा गया है। कुशल का भी अर्थ है —ज्ञानी। कुशल अपने ज्ञान से जन्म-मरण के चक्र का अतिक्रमण कर पुनः न बद्ध होता है और न मुक्त होता है — **कुसले पुण णो बद्धे, णो मुक्के** (१०६/१८२)।

आत्मतुला-अहिंसक जीवन का रक्षाकवच (तावीज़)

यदि हम हिंसा के गति-विज्ञान से परिचित हैं तो हमें यह समझते देर नहीं लगेगी कि हिंसा के कारण हमारा संसार नर्क बन गया। हिंसा एक ऐसी मानसिक ग्रन्थि है

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जिसका मोह हम छोड़ नहीं पाते और हमारी मृत्यु का वह कारण बनती है—

ऐस खलु गंथे

एस खलु मोहे

एस खलु मारे

एस खलु णरए (पृ० १०/२५)

जिसने हिंसा में निहित इस आतंक और अहित को देख लिया है, उसे हिंसा से निवृत्त होने में समय नहीं लगेगा। लेकिन यह 'देखना' कोरा बौद्धिक ज्ञान नहीं है। यह तो वस्तुतः एक आध्यात्मिक अनुभव है। जब तक कि हम अपने आप में अन्दर से इस बात को नहीं समझते, हम बाह्य जगत् में व्याप्त हिंसा को भी नहीं समझ सकते। महावीर कहते हैं, जो अध्यात्म को जानता है, बाह्य को जानता है। जो बाह्य को जानता है, वह अध्यात्म को जानता है।

जे अज्झत्थं जाणइ, से बहिया जाणइ।

जे बहिया जाणइ, से अज्झत्थं जाणइ। (पृ० ४२/१४७)

यही 'आत्मतुला' है। महावीर इसी आत्मतुला के अन्वेषण के लिए हमें आमन्त्रित करते हैं — **एयं तुलमण्णेसिं** (वही, १४८)।

आत्मतुला वस्तुतः सब जीवों के दुःख-सुख के अनुभव की समानता पर हमारा ध्यान आकृष्ट करती है। महावीर कहते हैं कि हमारी ही तरह सभी प्राणियों को आयुष्य प्रिय है। वे सुखास्वादन करना चाहते हैं। दुःख से घबराते हैं। उन्हें वध अप्रिय है, जीवन प्रिय है। वे जीवित रहना चाहते हैं—

सव्वे पाणा पियाउया सुहसाया दुक्खपडिकूला

अप्पियवहा पियजीविणो जीविउकामा। (८२/६३)

सव्वेसिं जीवियं पियं। (८४/६४)

अन्दर ही अन्दर हम सब भी यही चाहते हैं। अतः महावीर कहते हैं कि तू बाह्य जगत् को अपनी आत्मा के समान देख — **आयओ बहिया पास** (१३४/५२)।

यदि हम बाह्य जगत् को अपनी आत्मा के समान देख पाते हैं तो निश्चित ही हिंसा से विरत हो सकते हैं। महावीर ने अहिंसक जीवन जीने का हमें यह एक उत्तम रक्षा-कवच दिया है, जिससे मनुष्य न केवल स्वयं अपने को बल्कि समस्त प्राणी जगत् को हिंसा से बचाए रख सकता है। हमारी सारी कठिनाई यही है कि हम जिस तराजू से स्वयं को तौलते हैं, दूसरों को नहीं तौलते। दूसरों के लिए हम दूसरा तराजू इस्तेमाल

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

करते हैं। किन्तु महावीर 'आत्मतुला' पर ही सबको तौलने के पक्षधर हैं। जब तक हम दूसरे प्राणियों को भी आत्मवत् नहीं समझते, हम वस्तुतः अपनी रक्षा भी नहीं कर सकते। सबकी रक्षा में ही अपनी रक्षा भी सम्मिलित है। इसीलिए महावीर कहते हैं, सभी लोगों को समान जानकर, व्यक्ति को शस्त्र से, हिंसा से, उबरना चाहिए—

समयं लोगस्य जाणित्ता, एत्थ सत्थोवरए। (आयारो पृ० १२२/३)

यहाँ यह द्रष्टव्य है कि महावीर ने हमें यह जो हिंसा-अहिंसा विवेक के लिए आत्मतुला का मापदण्ड दिया है, उसे किसी न किसी रूप में अन्य दर्शनों/दार्शनिकों ने भी अपनाया है। इस सन्दर्भ में पाश्चात्य विख्यात दार्शनिक काण्ट का नाम सहज ही स्मरण हो आता है। काण्ट, यद्यपि जैनदर्शन से निश्चित ही अपरिचित रहे होंगे लेकिन उन्होंने नैतिक आचरण के जो मापदण्ड दिए हैं उनमें से एक आत्मतुला की ओर ही संकेत करता है। उनके अनुसार मनुष्य को ठीक उसी तरह व्यवहार करना चाहिए जैसा कि वह अपने लिए दूसरों से अपेक्षा करता है। काण्ट का कहना है कि व्यक्ति को सदैव ऐसे सूत्र के अनुसार काम करना चाहिए जो सार्वभौम नियम बन सके — "Act only on that maxim (or principle), which thou canst at the same time will to become a universal law." दूसरे शब्दों में हम दूसरों के प्रति कोई ऐसा काम न करें जिसे हम अपने लिए गलत समझते हों।

महावीर की 'आत्मतुला' के सन्दर्भ में यदि हम देखें तो इससे यह अर्थ निकलेगा कि यदि हमें हिंसा अपने लिए प्रिय नहीं है तो हमें दूसरों की हिंसा नहीं करनी चाहिए। अहिंसा ही एक ऐसा नियम हो सकता है जिसे सार्वभौमिक रूप से स्वीकार किया जा सकता है, हिंसा नहीं।

हिंसा का प्ररूप-विज्ञान (Typology)

यद्यपि जैन धर्मग्रन्थों में अन्य स्थानों पर हिंसा के अनेक प्ररूपों का वर्णन और वर्गीकरण हुआ है; किन्तु **आयारो** में स्पष्ट रूप से हिंसा का कोई प्ररूप विज्ञान नहीं मिलता, परन्तु एक स्थल पर हिंसा की दो विमाओं (Dimensions) का उल्लेख किया गया है (४०/१४०)। इसमें कहा गया है कि कुछ लोग प्रयोजनवश प्राणियों का वध करते हैं; किन्तु कुछ व्यक्ति बिना प्रयोजन ही वध करते हैं। इस प्रकार हिंसा अर्थवान् भी हो सकती है और अनर्थ भी हो सकती है। इसी गाथा में आगे चलकर हिंसा की एक और विमा बताई गई है जो हिंसा को तीनों कालों — विगत, वर्तमान और भविष्य से जोड़ती है। हिंसा इस प्रकार भूत-प्रेरित हो सकती है, वर्तमान प्रेरित हो सकती है और भविष्य प्रेरित भी हो सकती है —

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अप्पेगे अट्ठाए वहंति, अप्पेगे अणट्ठाए वहंति
अप्पेगे हिंसिंसु मेत्ति वा वहंति
अप्पेगे हिंसंति मेत्ति वा वहंति
अप्पेगे हिंसिस्संति मेत्ति वा वहंति (४०/१४०)

जहाँ तक हिंसा की प्रयोजनात्मक ('अट्ठाए') और अप्रयोजनात्मक ('अणट्ठाए') विमा का प्रश्न है, अर्थवान् अथवा प्रयोजनात्मक हिंसा के कुछ उदाहरण इसी गाथा के आरम्भ में दिए गए हैं जिसमें कहा गया है कि कुछ व्यक्ति शरीर के लिए प्राणियों का वध करते हैं तो कुछ लोग चर्म, मांस, रक्त, हृदय, पित्त, चर्बी, पंख, पूंछ, केश, सींग, दंत, दाढ़, नख, स्नायु, अस्थि और प्राणियों की अस्थिमज्जा के लिए उनका वध करते हैं। यह स्पष्ट ही प्रयोजनात्मक हिंसा है। हिंसा करने के बेशक और भी प्रयोजन हो सकते हैं। एक अन्य गाथा, जिसे आयारो में बार-बार दोहराया गया है, के अनुसार मनुष्य हिंसा

वर्तमान जीवन के लिए
प्रशंसा, सम्मान और पूजा के लिए
जन्म-मरण और मोचन के लिए,
दुःख प्रतिकार के लिए करता है। (३९/१३०)

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रयोजनात्मक हिंसा के कई विवरण हमें **आयारो** में मिलते हैं; किन्तु अप्रयोजनात्मक (अणट्ठाए) हिंसा का कोई स्पष्ट उदाहरण हमें नहीं मिलता, परन्तु एक गाथा में यह कहा गया है कि आसक्त मनुष्य हास्य-विनोद में (कभी-कभी) जीवों का वध कर आनन्द प्राप्त करता है—

अवि से हासमासज्ज, हंता णंदीति मन्नति (१३०/३२)

इसे स्पष्ट ही निरर्थक (अप्रयोजनात्मक) हिंसा कहा जा सकता है। इस प्रकार की हिंसा से मनुष्य को कोई लाभ नहीं होता सिवा इसके कि वह इस प्रकार की हिंसा करके एक अस्वस्थ सुख प्राप्त करे। इस प्रकार की निरर्थक हिंसा को हम **क्रीड़ात्मक हिंसा** भी कह सकते हैं। **आयारो** के अनुसार इस प्रकार की क्रीड़ात्मक हिंसा में केवल बाल और अज्ञानी लोग ही प्रवृत्त हो सकते हैं, क्योंकि इससे कोई मानव प्रयोजन तो सधता नहीं है, बल्कि इससे व्यक्ति निरर्थक ही अन्य प्राणियों से अपना बैर ही बढ़ाता है।

अलं बालस्य संगेणं, वेरं वड्ढेति अप्पणो। (१३०/३२)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आयारो में इस प्रकार जहाँ एक ओर प्रयोजन- सापेक्ष हिंसा की अर्थवान् और निरर्थक विमा का उल्लेख मिलता है वहीं एक दूसरी विमा, जो काल-सापेक्ष है, भी बतलाई गई है। इसके अनुसार (देखिए, ४०/१४०, ऊपर उद्धरित) (i) कुछ व्यक्ति (हमारे स्वजनों की) हिंसा की गई थी (भूतकाल) इसलिए वध करते हैं तो कुछ (ii) इसलिए कि लोग हिंसा कर रहे हैं (वर्तमान), वध करते हैं तथा कुछ (iii) इसलिए भी हिंसा में प्रवृत्त होते हैं कि उन्हें (भविष्य में) सम्भावना लगती है कि हिंसा की जाएगी

प्रथम प्रकार की हिंसा स्पष्ट ही भूतकाल से प्रेरित हिंसा है, क्योंकि विगत में कभी (परिजनों की) हिंसा की गई थी इसलिए व्यक्ति हिंसा करता है। इसे हम **प्रतिशोधात्मक हिंसा** कह सकते हैं। इस तरह की हिंसा में विगत हिंसा का बदला लेने के लिए हिंसा की जाती है।

द्वितीय प्रकार की हिंसा वर्तमान में हो रही हिंसा के प्रतिक्रिया स्वरूप की जाती है, क्योंकि आज कुछ लोग हिंसा में प्रवृत्त हैं इसलिए उसका जबाब देने के लिए इस प्रकार की हिंसा में प्रतिक्रिया स्वरूप, जबाबी आक्रमण किया जाता है। इसे हम **प्रतिक्रियात्मक हिंसा** कह सकते हैं।

तृतीय प्रकार की हिंसा में व्यक्ति भविष्य की आशंका में, इस डर से कि कहीं हमारे ऊपर हिंसा न हो जाए, हिंसा पर उतारू हो जाता है। इस प्रकार की हिंसा को हम **आशंकित हिंसा** या **भयाक्रांत हिंसा** कह सकते हैं।

यह जानना एक दिलचस्पी का विषय हो सकता है कि आज के विख्यात मनोविश्लेषक एरिक फ्रॉम ने हिंसा के जो अनेक प्ररूप बताए हैं उनमें भूतकाल प्रेरित (प्रतिशोधात्मक) हिंसा और वर्तमान प्रेरित (प्रतिक्रियात्मक), हिंसा का स्पष्ट उल्लेख हुआ है। उन्होंने हिंसा का एक प्रकार, क्रीड़ात्मक हिंसा भी बताया है लेकिन क्रीड़ात्मक हिंसा से उनका तात्पर्य मनोरंजन या प्रमोद के लिए हिंसा से न होकर खेलते समय (जूडो-कराटे, मुक्केबाजी इत्यादि) में जो हिंसा कभी-कभी हो जाती है उससे है। वे ऐसी क्रीड़ात्मक हिंसा को बुरा नहीं मानते। उसे वे जीवनोन्मुख मानते हैं।

●

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

श्रमण

प्रेक्षाध्यान एवं भावातीत ध्यान : एक चिन्तन

डॉ० सुधा जैन*

भारतीय साधना-पद्धति की मुख्य दो धाराएँ हैं — श्रमण और ब्राह्मण। श्रमण परम्परा में जैन एवं बौद्ध आते हैं। ब्राह्मण परम्परा में- वेद, पुराणादि में विश्वास करने वाले आते हैं। ब्राह्मण परम्परा के विचार भी अध्यात्म की अभिमुखता लिए हुए हैं, फिर भी पद्धतियों की अपनी स्वतन्त्रता तो होती ही है। सम्पूर्ण भारतीय दर्शन ने चरित्र को प्रधानता दी है। बिना चरित्र के केवल दर्शन का उतना महत्त्व नहीं होता है, जितना कि होना चाहिए। आचरण सम्यक् होता है तो दर्शन भी सम्यक् होता है और दर्शन सम्यक् होता है तो आचरण को भी सम्यक् होने की प्रेरणा मिलती है। जैन दर्शन ने जिस विचार और साधना-पद्धति का निरूपण किया, वह सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र की त्रिपुटी है[१] यही कारण है कि जैन साधना-पद्धति 'मोक्षमार्ग' के नाम से भी प्रसिद्ध है। इसी प्रकार बौद्ध साधना-पद्धति को विशुद्ध-मार्ग और सांख्य साधना-पद्धति को विवेक ख्याति के रूप में निरूपित किया गया। किन्तु कोई भी साधना-पद्धति, चाहे वह किसी भी नाम से पहचानी गई हो, उसका मूल ध्येय चित्त की विशुद्धि, कषाय पर विजय और परम स्वरूप को प्राप्त करना है।

अष्टाङ्गयोग का जो व्यवस्थित रूप बना उसमें महर्षि पतञ्जलि की महत्त्वपूर्ण भूमिका है। ब्राह्मणिक योग का विकास महर्षि पतञ्जलि से आरम्भ होता है। इसका अर्थ यह नहीं कि महर्षि पतञ्जलि योग के प्रवर्तक हैं; बल्कि उन्होंने योगमार्ग को व्यवस्थित कर अपने ग्रन्थ में विस्तृत व्याख्या की है। योग का पथ महर्षि पतञ्जलि से पूर्व भी था तभी तो उन्होंने प्रथम सूत्र में 'अथ योगानुशासनम्'[२] से उसकी व्यवस्था की चर्चा की है और यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि[३] को विभाजित कर साधना का विकास-क्रम बताया है। यम से धारणा तक का सारा उपक्रम ध्यान की उपलब्धि के लिए है। धारणा की सघनता ध्यान और ध्यान की सघनता ही समाधि बनती है। ध्यान अथवा समाधि की साधना सभी परम्पराओं में समान रूप से प्रतिष्ठित है।

---

*. प्रवक्ता, पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वस्तुतः देखा जाय तो जिस चीज की उपयोगिता बढ़ जाती है उसकी संख्या में भी वृद्धि हो जाती हैं। लक्ष्य एक होने पर भी मार्ग अलग-अलग बन जाते हैं और उनके अलग-अलग निर्माता-संस्कर्ता हो जाते हैं। इसी प्रकार प्राचीनकाल से अब तक ध्यान भी बहुत उपयोगी सिद्ध हुआ है। जिस दिन से मनुष्य ने ध्यान करना सीखा, उसे कुछ मिला। उसे महसूस हुआ कि ध्यान भी उपयोगी है, मूल्यवान् है। जब मूल्य होता है तो उसके साथ उसकी अर्थवत्ता भी बढ़ जाती है। जब कभी भी ध्यान प्रचलन में आया होगा तो उसकी एक ही शाखा रही होगी। किन्तु समय परिवर्तन के साथ-साथ उसकी अनेक शाखाएं बनती जा रही हैं। फलतः आज सैकड़ों ध्यान पद्धतियां चल रही हैं, लेकिन इस आलेख में हम केवल प्रेक्षाध्यान और भावातीत ध्यान के बारे में ही चर्चा करेंगे।

भावातीत ध्यान को संक्षेप में टी०एम० (Transendental Meditation) भी कहा जाता है। इसके संस्कर्ता महर्षि महेश योगी हैं और प्रेक्षाध्यान के संस्कर्ता हैं— युवाचार्य महाप्रज्ञ (वर्तमान आचार्य)।

भावातीतध्यान और प्रेक्षाध्यान इन दोनों पद्धतियों को तुलनात्मक दृष्टि से देखें। भावातीतध्यान का वैज्ञानिक साहित्य तो बहुत है; किन्तु इसके मूल स्वरूप को बताने वाला साहित्य बहुत कम है। भावातीत ध्यान में एक मन्त्र का प्रयोग कराया जाता है, जो बीस मिनट तक चलता है। मन्त्र की एक निश्चित विधि है। जिसका जप करते-करते व्यक्ति भावातीत हो जाता है, भावना से अतीत होकर गहरी एकाग्रता में चला जाता है।

मन्त्र-जप के प्रयोग का नाम ही भावातीत ध्यान रखा गया है।[४] भावातीत ध्यान को निर्विकल्प ध्यान भी कहा जा सकता है। किन्तु प्रश्न होता है कि क्या जप द्वारा यह सम्भव है, क्योंकि जप केवल उच्चारण ही नहीं है बल्कि एक मानसिक प्रक्रिया है। जब हम ध्यान की तरफ जप को ले जाते हैं तो उसे विराम देने की जरूरत होती है। विराम की स्थिति में एक मन्त्र को गिनने में एक मिनट, दो मिनट भी लग सकते हैं। जितना विराम देंगे, अन्तराल बढ़ता चला जायेगा। शून्य में रहना या शून्य को जानना ही अधिक महत्त्वपूर्ण होता है। हम श्वास को भी देखते हैं। श्वास भीतर गया, वह बाहर आने वाला है। श्वास के आने और जाने के बीच के अन्तराल को पकड़ना ही मुख्य ध्येय है।

ध्यान के हर क्षण में शून्य को पकड़ना बहुत महत्त्वपूर्ण है। प्रत्येक क्रिया में विश्राम आवश्यक है। ध्यान और जप के साथ भी यह बात (विश्राम) लागू होती है। जप का महत्त्वपूर्ण क्षण होता है— खाली रहना। हम जितना अन्तराल देना सीखेंगे, उतना ही भावातीतध्यान सधता चला जायेगा। व्यक्ति भावातीत तभी बनता है जब वह

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अन्तराल देना सीख लेता है। जैसे-जैसे जप की प्रक्रिया आगे बढ़ती है, अन्तराल भी उसी के साथ आगे बढ़ता है। एक बार मन्त्र जपा और पाँच सेकेण्ड बिल्कुल निर्विकल्प रहे। जब यह अवस्था बढ़ती चली जाती है तो जप भावातीत हो जाता है और एक समय ऐसी स्थिति आती है जब शब्द छूट जाता है और केवल अर्थ रह जाता है। यही स्थिति भावातीत ध्यान की है। इस अवस्था को समाधि भी कहा जाता है। प्रारम्भ में शब्द और विचार का आलम्बन लिया जाता है, वह निर्विचार में बदल जाता है, शब्द और विचार छूट जाते हैं और केवल तन्मात्र रह जाता है, अर्थ की अनुभूति रह जाती है। प्रेक्षाध्यान में भी अर्हं का जप कराया जाता है। जप करते-करते 'अर्हं' शब्द छूट जाता है और 'अर्हं' का अर्थमात्र रह जाता है, व्यक्ति समाधि में चला जाता है। समाधि में चले जाना ही भावातीत ध्यान है, यही व्यक्ति की भावातीत चेतना है।

प्रेक्षाध्यान पद्धति में जप को अस्वीकृत नहीं किया है इसमें अन्य प्रयोगों जैसे— कायोत्सर्ग, अन्तर्यात्रा, श्वासप्रेक्षा, शरीरप्रेक्षा, लेश्याध्यान, चैतन्यकेन्द्रप्रेक्षा, प्राणायाम, आसन आदि के साथ-साथ जप का प्रयोग भी कराया जाता है।[५] एकाग्रता के लिए जप का प्रयोग बहुत जरूरी होता है। जप और भावना अलग-अलग नहीं हैं अपितु एक ही है। भावातीत ध्यान को तन्मय ध्यान भी कहा जाता है। साध्यमय हो जाना या साधक और साध्य का भेद न रहना अर्थात् ध्येय को अपने आप में संक्रान्त कर देना। हम जिस किसी का ध्यान करते हैं, अपने आपमें उस का अनुभव करना ही तन्मयध्यान, तद्रूपध्यान, समापत्ति या भावना है। कहा भी गया है— **तद् जपः तदर्थभावनम्** अर्थात् जिसका ध्यान करें उसी की भावना करें। अर्हम् का जप करते समय अर्हंमय हो जाना, ॐ का जप करते समय ओम्मय हो जाना, शिव का जप करते समय शिवमय हो जाना आदि ही भावना है और यही जप है। जप करते-करते ऐसा भी क्षण आता है जब अपरिमित आनन्द आने लगता है। शक्ति की कोई सीमा नहीं रहती अर्थात् वह भी अपरिमित हो जाती है और वैसी ही क्रिया होने लगती है।

भावातीत ध्यान की तरह ही प्रेक्षाध्यान में भी जप का प्रयोग कराया जाता है। शब्द और अशब्द— इन दोनों ही पद्धतियों का ध्यान में समावेश किया गया है। शब्द के द्वारा ही विकास होता है। यदि शब्द का प्रयोग नहीं होगा तो विकास रुक जायेगा। शब्द या सुरत एक ही है। सन्त कबीर ने भी सुरत का बहुत प्रयोग किया है।[६] मन्त्र को बनाते समय मन्त्र निर्माता को यह ज्ञान होता है कि किन शब्दों का गठन किया जाय, क्योंकि मन्त्र में शब्द का अर्थ गौण होता है; केवल 'शंब्द' की शक्ति ही प्रधान होती है। गठन का आधार ही है, प्रकम्पन। अमुक-अमुक शब्द मिलकर किस प्रकार का प्रकम्पन उत्पन्न करेंगे, इस आधार पर शब्द संरचना संगठित होती है। सम्पूर्ण ध्वनि-चिकित्सा (Sound Therepy) प्रकम्पनों के आधार पर ही चलती है। प्रेक्षाध्यान

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

में भी ध्वनि-चिकित्सा के बहुत से प्रयोग कराये जाते हैं। कहा भी गया है — जहाँ हजार दवाइयाँ काम नहीं करती हैं, वहां एक शब्द काम कर जाता है।

शब्दों का गठन, प्रकम्पन और भावना — इन तीनों का योग बनता है और जप शुरू हो जाता है; व्यक्ति भावातीत स्थिति में चला जाता है। प्रेक्षाध्यान में जप का प्रयोग अनुप्रेक्षा के साथ चलता है। अनुप्रेक्षा का अर्थ है बार-बार उसका चिन्तन-मनन करना। अनुप्रेक्षा भी स्वाध्याय का ही एक प्रकार है तथा स्वाध्याय ध्यान का आदि सोपान है। अनुप्रेक्षा में आवृत्तियाँ की जाती हैं और बार-बार आवृत्ति करते रहने से ही मन पर उसका संस्कार होना शुरू हो जाता है। शब्द की महिमा का प्रभाव व्यक्ति के भीतर तक जमा हुआ है। व्यक्ति सारे अर्थों को शब्द के माध्यम से ही जानता है। यही कारण है कि शब्द-शक्ति से सम्बन्धित जितने भी प्रयोग हैं उनका महत्त्व बढ़ गया है।

दोनों ही ध्यान-पद्धतियां जप को महत्त्व देती हैं, क्योंकि जप में लीन हुए या एकाग्र हुए बिना हम शून्य में प्रवेश नहीं कर सकते हैं। शून्य में जाने का अर्थ ही है — भावातीत होना। यहाँ हम दोनों ही ध्यान विधि का संक्षिप्त रूप दे रहे हैं। आशा है इससे पाठक लाभान्वित होंगे तथा इसे अपने जीवन में प्रयोग कर इसके महत्त्व को समझेंगे।

प्रेक्षाध्यान प्रयोग-विधि[७]

(१) सर्वप्रथम प्रयोग हेतु सुखासन, वज्रासन, पद्मासन या अर्द्धपद्मासन में से किसी एक आसन में स्थिर होकर बैठ जायें। समय— २मिनट।

(२) आंखों को बिना दबाव दिए कोमलता से बन्द करें।

(३) दोनों हथेलियों को नाभि के नीचे स्थापित करें। बायी हथेली नीचे और दायीं हथेली ऊपर (ब्रह्म-मुद्रा) अथवा दोनों हथेलियों को घुटनों पर रखें; अंगूठा व तर्जनी अंगूली को मिलायें तथा शेष तीनों अंगुलियां सीधी रहें (ज्ञान मुद्रा)। समय— २ मिनट।

(४) अर्हम् या महाप्राण की ध्वनि नौ बार करें। समय— ३ मिनट।

(५) कायोत्सर्ग (Relaxation) — पैर से सिर तक शरीर के प्रत्येक भाग पर चित्त को केन्द्रित कर स्वतः सूचन (Auto-Suggestion) के द्वारा शिथिलता का सुझाव देकर पूरे शरीर को शिथिल करें। पूरे प्रयोग काल तक कायोत्सर्ग की मुद्रा बनी रहे। पूरा शरीर स्थिर एवं निश्चल रहे। समय— ५ मिनट।

(६) लयबद्ध दीर्घ श्वास प्रेक्षा — गहरा लम्बा लयबद्ध श्वास लें। गहरा लम्बा लयबद्ध श्वास छोड़ें। एक श्वास लेने व छोड़ने में जितना समय लगे। दूसरी बार भी उतना

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ही समय लगे। तीसरी बार भी उतना ही समय लगे। इस प्रकार चित्त को नाभि पर केन्द्रित कर आते-जाते श्वास की प्रेक्षा करें। समय— ५ मिनट।

(७) इसके पश्चात् भिन्न-भिन्न प्रयोगों के लिए दिये गये शब्दों का १२ मिनट तक उच्चारण करें। ४ मिनट बाह्य उच्चारणपूर्वक, ४ मिनट मंद व ४ मिनट मानसिक अनुचिन्तन कर उस मन्त्र का जप करें। समय— १२ मिनट।

जैसे— मानसिक सन्तुलन हेतु हरे रंग का श्वास, दर्शन-केन्द्र पर ध्यान तथा मन्त्र-आवेश अनुशासित हो रहा है, मानसिक सन्तुलन बढ़ रहा है, का उच्चारण करें। समय— २ मिनट।

(८) महाप्राण ध्वनि के द्वारा प्रयोग सम्पन्न करें। समय— २ मिनट।

इस प्रकार पूरा प्रयोग ३० मिनट तक किया जाता है।

भावातीत ध्यान पद्धति[८]

ध्यान के लिए चित्त को स्थिर कर, किसी भी आसन में बैठ जायें। मन जागरूक और उन्मुक्त रहे। आँखों को बन्द करके मन:चक्षु के सामने उस मन्त्र को जिसका जप करना है। जब जप करते-करते मन पूरी तरह उसमें रम जाता है तब और भाव लयमय हो जाता है भावों का लयमय होना ही भावातीत अवस्था में चले जाना है। ध्यान की इस अवस्था में आने वाले विचारों को रोकने की कोशिश नहीं करनी चाहिए। वह स्वत: ही चले जायेंगे। इस ध्यान का प्रयोग प्रतिदिन दिन में दो बार २० मिनट तक करना चाहिए।

●

सन्दर्भ-सूची

१. सम्यक्दर्शनज्ञानचारित्राणिमोक्षमार्ग:।

— **तत्त्वार्थसूत्र**, विवेचक— पं० सुखलाल संघवी, पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी, तृतीय संस्करण, १९७६ ई० सन्, १/१.

२. ब्रह्मलीन मुनि, **पातञ्जलयोगदर्शन**, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, चतुर्थ संस्करण, १९९०ई०सन्, १/१.

३. वही, २/२९.

४. महर्षि महेशयोगी, **भावातीतध्यानशैली**, आध्यात्मिक पुनरुत्थान आन्दोलन, शङ्कराचार्य नगर, ऋषिकेश, १९९३ ई० सन् .

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

५. युवाचार्य महाप्रज्ञ, प्रेक्षाध्यान : आधार और स्वरूप, जैन विश्वभारती, लाडनूं,१९८८ ई० सन् .

६. डॉ० माताप्रसाद गुप्त, कबीरग्रन्थावली-साखी, प्रामाणिक प्रकाशन, आगरा-१९६८ ई० सन् .

७. युवाचार्य महाप्रज्ञ, प्रेक्षाध्यान : प्रयोग पद्धति, लाड़नूं .

८. महर्षि महेशयोगी, भावातीतध्यान शैली, ऋषिकेश- १९९३.

●

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

श्रमण

यशस्तिलक चम्पू में आयुर्वेदीय स्वस्थवृत्त सम्बन्धी विषय

*आचार्य राजकुमार जैन**

यशस्तिलक चम्पू जैन साहित्य का एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है, जो गद्य और पद्यमय शैली में संस्कृत भाषा में रचित है। इसकी रचना सोमदेव सूरि ने की है और इसमें महाराज यशोधर के जीवन चरित्र को आधार बनाया गया है। यह ग्रन्थ जैन साहित्य की ही नहीं, अपितु संस्कृत साहित्य की एक अमूल्य निधि है। सम्पूर्ण ग्रन्थ में दो हजार तीन सौ ग्यारह पद्य तथा शेष गद्य हैं। सोमदेव ने गद्य और पद्य दोनों मिला कर आठ हजार श्लोक प्रमाण बतलाया है।

यशस्तिलक चम्पू की पुष्पिका में यह उल्लिखित है कि चैत्र शुक्ल १३, शक संवत् ८८१ (१०१६ वि०सं०- ९५९ ई०) में श्री कृष्णराजदेव पाण्ड्य के सामन्त एवं चालुक्यवंशीय अरिकेशरी के प्रथम पुत्र वद्दिगराज की राजधानी गंगधारा में सोमदेव ने इस ग्रन्थ की रचना पूर्ण की थी। राष्ट्रकूट नरेश अमोघवर्ष के तृतीय पुत्र कृष्णराजदेव (जिनका दूसरा नाम अकालवर्ष भी था) का राज्य काल ८६७ से ८९४ शक संवत् तक रहा। इस दृष्टि से सोमदेव का स्थिति काल और उनकी कृति **यशस्तिलक चम्पू** का रचना काल सुस्पष्ट है।

सोमदेव एक समन्वयवादी विचारधारा के उदारचेता विद्वान् थे। यही कारण है कि जैमिनि, कपिल, चार्वाक, कणाद आदि के शास्त्रों पर भी उनका समान भाव से आदर था। उनके इस उदार दृष्टिकोण का आभास उनके ग्रन्थों का अध्ययन करने से सहज ही हो जाता है। उनका व्याकरण, कला, छन्द, अलङ्कार आदि के शास्त्रों-विषयों पर पाण्डित्यपूर्ण अधिकार था। यही कारण है कि ये विषय उनकी कृतियों में पर्याप्त रूप से मुखरित हुए हैं। इसके साथ ही यह असन्दिग्ध रूप से कहा जा सकता है कि

---

*. ११२ए/ब्लाक-सी, पाकेट सी, शालीमार बाग, दिल्ली- ११००५२

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi.

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आयुर्वेदशास्त्र और उसके मौलिक सिद्धान्तों का पर्याप्त ज्ञान उन्हें था। उन्होंने यशस्तिलक चम्पू में पर्याप्त रूप से इन विषयों की विवेचना की है तथा साधिकार उनका प्रतिपादन किया है, जो आयुर्वेद की दृष्टि से निश्चय ही महत्त्वपूर्ण है।

आयुर्वेद के अनुसार उचित मात्रा और परिणाम में सेवन किया गया आहार अमृत तुल्य होता है, जबकि अधिक मात्रा में सेवित हितकारी पदार्थ भी विषतुल्य हो जाते हैं। सोमदेव ने जल का सेवन इसी प्रकार अमृत और विष की भाँति बतलाया है। अर्थात् उचित समय पर उचित मात्रा में दिया गया जल अमृत है और अनुचित समय में अव्यवस्थित रूप से दिया गया जल विष की भाँति हानिकारक है। अत: खान-पान में समय, मात्रा आदि का ध्यान रखना अत्यन्त आवश्यक है। वे लिखते हैं —

अमृतं विषमिति चैतत्सलिलं निगदन्ति विदिततत्त्वार्थाः।

युक्त्या सेवितममृतं विषमेतदयुक्तितः पीतम्।।

(यशस्तिलक, ३/३६९)

सेवन योग्य पथ्य जल और त्याज्य जल का निर्देश करते हुए ग्रन्थकार ने जल सम्बन्धी अपने परिष्कृत ज्ञान का परिचय दो श्लोकों में निम्न प्रकार से दिया है —

अव्यक्तरसगन्धं यत्स्वच्छं वातातपाहतम्।

प्रकृत्यैवाम्बु तत्पथ्यमन्यत्र क्वथितं पिबेत्।। ३७१ ।।

वारि सूर्येन्दुसंसिद्धमहोरात्रात्परं त्यजेत्।

दिवासिद्धं निशि त्याज्यं निशिसिद्धं दिवा त्यजेत्।। ३७२ ।।

अर्थात् जिसका रस व गन्ध अव्यक्त (प्रकट रूप से नहीं जाना जाता) हो, जो स्वच्छ हो, वायु और आतप (धूप) से आहत हो, वह जल स्वभाव से ही पथ्य होता है। इससे विपरीत अर्थात् व्यक्त रस और गन्ध वाला मलिन तथा वायु और आतप से अनाहत जल उबाल कर पीना चाहिये। इसी प्रकार दिन में उबाला हुआ जल रात्रि में नहीं पीना चाहिए (केवल दिन में ही पीना चाहिये) और रात्रि में उबाला हुआ जल दिन में नहीं पीना चाहिये (केवल रात्रि में ही पीना चाहिये)।

यहाँ पर एक विशेष प्रकार के जल का उल्लेख किया गया है जो "सूर्येन्दु संसिद्ध जल" कहलाता है। इसकी विधि यह है कि जल से भरा हुआ घड़ा पहले दिनभर धूप में खुला हुआ रखना चाहिये और पश्चात् रातभर चन्द्र किरणों में खुला रखना चाहिये। इस प्रकार दिन में सूर्य की किरणों से सन्तप्त और रात्रि में चन्द्र किरणों से शीतल जल सूर्येन्दु संसिद्ध जल कहलाता है। इस जल का सेवन अगले दिन-रातभर करना चाहिये, उसके पश्चात् वह त्याज्य है। आयुर्वेदशास्त्र में इस जल को "हंसोदक" जल

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कहा गया है और यह केवल शरद ऋतु में ही सिद्धि योग्य एवं सेवनीय होता है। इस जल के विषय में महर्षि चरक का निम्न कथन दृष्टव्य है —

> दिवा सूर्याशुसंतप्तं निशि चन्द्रांशुशीतलम्।
> कालेन पक्वं निर्दोषममस्त्येनाविषी कृतम्।।
> हंसोदकमिति ख्यातं शारदं विमलं शुचिः।
> स्नानपानावमाहेषु शस्यते तद्यथाऽमृतम्।।

अर्थात् दिन में सूर्य की किरणों से सन्तप्त और रात्रि में चन्द्रमा की किरणां से शीतल किया हुआ, काल स्वभाव से परिपक्व, अतः दोषरहित और अगस्त्य नक्षत्र के प्रभाव से विषरहित किया गया जल "हंसोदक" के नाम से जाना जाता है जो शारदीय, विमल और पवित्र होता है। यह हंसोदक स्नान- पान-अवगाहन में अमृतवत् प्रशस्त होता है।

महर्षि चरक के इस हंसोदक जल तथा आचार्य वाग्भटोक्त हंसोदक जल की निर्माण विधि का अनुसरण करते हुए ही आचार्य सोमदेव ने "सूर्येन्दु संसिद्ध" जल का कथन किया है। अतः दोनों में केवल नाम का ही अन्तर समझना चाहिये, निर्माण विधि आदि में कोई अन्तर नहीं है। इस सन्दर्भ में इतना अवश्य ध्यान देने योग्य है कि आयुर्वेदीय ग्रन्थों में हंसोदक जल के सेवन का उल्लेख मात्र ऋतु विशेष में है जबकि **यशस्तिलक** में सूर्येन्दु संसिद्ध जल के सेवन के लिए किसी ऋतु विशेष का उल्लेख नहीं है।

> तप्तं तप्तांशुकिरणैः शीतं शीतांशुरश्मिभिः।
> समन्तादप्यहोरात्रमगस्त्योदयनिर्विषम्।।
> शुचि हंसोदकं नाम निर्मलं मलजिज्जलम्।
> नाभिष्यन्दि न वा रूक्षं पानादिष्वमृतोपमम्।।

अष्टाङ्गहृदय, सूत्रस्थान, ३/५१-५२

आयुर्वेदशास्त्र में प्रतिपादित है कि वात, पित्त और कफ ये तीन दोष मानव शरीर के लिए अति महत्त्वपूर्ण हैं और इनसे मनुष्य की प्रकृति का निर्माण होता है। शरीर में ऋतुओं के अनुसार इन दोषों का संचय, प्रकोप और प्रशमन स्वतः ही होता रहता है। **यशस्तिलक** में इनका सुन्दर विवेचन किया गया है, जो निम्न प्रकार है —

> शिशिरसुरभिधर्मेष्वातपाम्भः शरत्सु क्षितिप जलशरद्धेमन्तकालेषु चैते।
> कफपवनहुताशाः संचयं च प्रकोपं प्रशममिह भजन्ते जन्मभाजां क्रमेण।।

यशस्तिलकचम्पू, श्लोक ३४९, पृ० ५१४.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

उपर्युक्त श्लोक का सारांश निम्न प्रकार से समझा जा सकता है —

दोष	संचय	प्रकोप	प्रशमन
कफ	शिशिर	वसन्त	ग्रीष्म
वात	ग्रीष्म	वर्षा	शरद्
पित्त	वर्षा	शरद	हेमन्त

वातादि दोषों के उपर्युक्त प्रकार से संचय, प्रकोप और प्रशमन को ध्यान में रखते हुए लोगों को अपने खान-पान की व्यवस्था करनी चाहिये और उस पर पूरा ध्यान देना चाहिये। अत: किस ऋतु में किस प्रकार का आहार उचित है, इसका निर्देश भी **यशस्तिलक** में सुन्दर ढंग से किया गया है, जो निम्न प्रकार है (देखिये, श्लोक ३४९, पृ० ५१४) —

ऋतु	खाद्य - पेय रस
शरद्	स्वादु (मधुर), तिक्त, कषाय रस प्रधान आहार
वर्षा	मधुर, अम्ल, लवण रस प्रधान आहार
वसन्त	तीक्ष्ण, तिक्त, कषाय रस प्रधान आहार
ग्रीष्म	प्रशम रस वाला आहार।

इसी प्रकार ऋतु के अनुसार खाद्य-पेय सामग्री का निर्देश भी सोमदेव ने बड़े अच्छे ढंग से किया है। (देखिए, श्लोक ३५० से ३५४, पृ० ५१४)

ऋतु	खाद्य - पेय सामग्री
शिशिर	ताजा भोजन, खीर, उड़द, इक्षु, दधि, घृत और तेल से बने खाद्य पदार्थ, पुरन्ध्री।
वसन्त	जौ और गेहूँ से बना प्राय: रूक्ष भोजन।
ग्रीष्म्	सुगन्धित चावलों का भात, घी, दली हुई मूँग की दाल, विष (कमल नाल), किसलय (मधुर पल्लव), कन्द, सत्तू, पानक (ठण्डाई), आम, नारियल का पानी तथा चीनी मिश्रित दूध या पानी।
वर्षा	पुराने चावल, जौ तथा गेहूँ से बने पदार्थ।
शरद्	घृत, मूँग, शालि, लप्सी, दूध से निर्मित पदार्थ (खीर आदि), परवल, दाख (अंगूर), आँवला, ठण्डी छाया, मधुर रस वाले पदार्थ, कन्द, कौपल, रात्रि में चन्द्रकिरण आदि।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

उपर्युक्त विवेचन के पश्चात् सोमदेव ने ऋतुओं के अनुसार रसों का सेवन कम-ज्यादा मात्रा में करने का निर्देश किया है। उनके अनुसार वैसे छहों रसों का व्यवहार सर्वदा सुखकर होता है (श्लोक ३२८-२९, पृ० ५०९)।

भोजन के विषय में और भी अनेक प्रकार की ज्ञातव्य बातों का उल्लेख यशस्तिलक में किया गया है जिनका अति संक्षेपतः यहाँ उल्लेख किया जा रहा है। मूल ग्रन्थ में पृ० ५१० पर श्लोक ३३० से ३४४ तक विशद रूप से इसका विवेचन किया है।

— आहार, निद्रा और मलोत्सर्ग के समय शक्ति तथा बाधायुक्त मन होने पर अनेक प्रकार के बड़े-बड़े रोग हो जाते हैं (श्लोक ३३४, पृ० ५१०)।

— भोजन करते समय उच्छिष्ट भोजी, दुष्ट प्रवृत्ति, रोगी, भूखा तथा निन्दनीय व्यक्ति पास में नहीं होना चाहिये (श्लोक ३३५, पृ० ५१०)।

— विवर्ण, अपक्व, सड़ा, गला, विगन्ध, विरस, अतिजीर्ण, अहितकर तथा अशुद्ध अन्न नहीं खाना चाहिये (श्लोक ३३६, पृ० ५१०)।

— हितकारी, परिमित, पक्व, क्षेत्र, नासा तथा रसना इन्द्रिय को प्रिय लगने वाला, सुपरीक्षित भोजन न जल्दी-जल्दी और न धीरे-धीरे अर्थात् मध्यम गति से करना चाहिये (श्लोक ३३७, पृ० ५२०)।

— विषयुक्त भोजन को देखकर कौआ और कोयल विकृत शब्द करने लगते हैं, बकुल और मयूर आनन्दित होते हैं, क्रौंच पक्षी अलसाने लगता है, ताम्रचूड़ (मुर्गा) रोने लगता है, तोता वमन करने लगता है, बन्दर मलत्याग कर देता है, चकोर के नेत्र लाल हो जाते हैं, हंस की चाल डगमगाने लगती है और भोजन पर मक्खियां नहीं बैठतीं। जिस प्रकार नमक डालने से अग्नि चटचटाती है उसी प्रकार विषयुक्त अन्न के सम्पर्क से भी अग्नि चटचटाने लगती है (श्लोक ३३८-४०, पृ० ५१०)।

— पुनः गर्म किया हुआ भोजन, अंकुर निकला हुआ अन्न तथा दस दिन तक कांसे के बर्तन में रखा गया घी नहीं खाना चाहिये।

— दही व छाछ के साथ केला, दूध के साथ नमक, कांजी के साथ कचौड़ी-जलेबी, गुड़, पीपल, मधु तथा मिर्च के साथ काकमाची (मकोय), मूली के साथ उड़द की दाल, दही की तरह गाढा सत्तू तथा रात्रि में कोई भी तिल विकार (तिल से बने पदार्थ) नहीं खाना चाहिये (श्लोक ३४१-४४, पृ० ५१०)।

— घृत एवं जल को छोड़कर रात्रि में बने हुए पदार्थ, केश या कीटयुक्त पदार्थ तथा फिर से गरम किया हुआ भोजन नहीं करना चाहिये।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

— अत्यशन, लध्वशन, समशन और अध्यशन नहीं करना चाहिये। प्रत्युत बल और जीवन प्रदान करने वाला उचित भोजन करना चाहिये।

अत्यशन — भूख से अधिक खाना

लध्वशन — भूख से कम खाना

समशन — पथ्य और अपथ्य दोनों खाना

अध्यशन — खाए हुए भोजन पर पुनः भोजन करना।

इन चारों अशन का त्याग करना अभीष्ट रहता है (श्लोक ३४५, पृ० ५१३)।

इसके पश्चात् सज्जन नामक वैद्य द्वारा यशोधर महाराज को उपदेश दिया गया कि भोजन के अनन्तर मनुष्य को कौन से कार्य नहीं करने चाहिये। यथा—

कामकोपातपायासयानवाहनवह्नयः।

भोजनानन्तरं सेव्या न जातु हितमिच्छता।। ३७४ ।।

अर्थात् स्वास्थ्य-हित की इच्छा रखने वाले मनुष्य को भोजन करने के उपरान्त कभी भी स्त्री सेवन, क्रोध, धूपसेवन, परिश्रम वाले कार्य, शीघ्रगमन, घोड़े गाड़ी आदि की सवारी और आग तापना ये कार्य नहीं करना चाहिये।

आयुर्वेदशास्त्र में भी इन्हीं कार्यों का निषेध किया गया है। आचार्य वाग्भट ने भोजन के बाद जिन कार्यों को करने का निषेध किया है, वे निम्न हैं —

पानं त्यजेयु सर्वश्च सर्वश्च भाष्याध्वशयनं त्यजेत्।

पीत्वा, भुक्त्वाऽऽतपं वह्निं यानं प्लवनवाहनम्।।

(अष्टाङ्गहृदय, सूत्रस्थान, ८/५४)

अर्थात् सभी (स्वस्थ या रोगी) मनुष्य अनुपान पीकर बोलना, मुसाफिरी और शयन करना छोड़ देवें। भोजन करके (भोजन के बाद) धूपसेवन, अग्नि का तापना, शीघ्रगमन, तैरना और वाहन की सवारी करना छोड़ देवें।

स्वास्थ्य हित की दृष्टि से भोजन के पश्चात् उपर्युक्त सावधानी का निर्देश करते हुए श्रीमत्सोमदेव ने मनुष्य के वैयक्तिक स्वास्थ्य के प्रति जिस सजगता का परिचय दिया है वह उनके मानसिक एवं बौद्धिक चिन्तन का परिणाम है, क्योंकि भोजन में और भोजन के पश्चात् यदि अपेक्षित सावधानी नहीं बरती जाती है और निरन्तर अपथ्य का आचरण किया जाता है, तो कालान्तर में गम्भीर विकारोत्पत्ति रूप परिणाम भुगतना पड़ सकता है, जो स्वास्थ्य के लिए अनुकूल नहीं होने से अपाय कारक है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

रात्रि शयन या निद्रा

सोमदेव ने सुखपूर्वक पर्याप्त निद्रा को स्वास्थ्य के लिए अत्यावश्यक एवं उपयोगी बतलाया है। उनके अनुसार सुख की नींद सोकर जागने पर मन और इन्द्रियां प्रसन्न हो जाती हैं, पेट हल्का हो जाता है और पाचन क्रिया ठीक रहती है। यथा—

अधिगतसुखनिन्द्रः सुप्रसन्नेन्द्रियात्मा सुलघुजठरवृत्तिर्भुक्तपक्तिं दधानः। (पृ०५०७)

इसी भांति जिस प्रकार खुली स्थाली (पाक मात्र) में अन्न ठीक से नहीं पकता उसी प्रकार पर्याप्त नींद लिये बिना और व्यायामहीन मनुष्य के भोजन का सम्यक् परिपाक नहीं होता। यथा—

स्थाल्यां यथा नावरणाननायामघट्टितायां च न साधुपाकः।

अनाप्तनिद्रस्य तथा नरेन्द्र व्यायामहीनस्य च नान्नपाकः।। (पृ० ५०७)

वेगावरोध का परिणाम

शौच तथा मूत्र विसर्जन की बाधा होने पर उसकी निवृत्ति शीघ्र कर लेना चाहिये। मल और मूल का वेग रोकने से भगन्दर व्याधि उत्पन्न हो जाती है। यथा—

भगन्दरी स्यन्द विवन्धकाले। (पृ० ५०९)

अभ्यङ्ग और उद्वर्तन

प्राचीन काल में शरीर की तेल मालिश करने के लिए अभ्यङ्ग शब्द का व्यवहार किया जाता था। आयुर्वेद में भी अभ्यङ्ग शब्द ही प्रयुक्त किया गया है। सोमदेव के अनुसार अभ्यङ्ग श्रम और वायु को दूर करता है, बल को बढ़ाता है तथा शरीर को दृढ़ करता है। यथा—

अभ्यंगः श्रमवातहा बलकरः कायस्य दार्ढ्यावहः। (पृ० ५०८)

उद्वर्तन या उबटन शरीर में कान्ति बढ़ाता है, मेद, कफ व आलस्य को दूर करता है —

स्यादुद्वर्तनमङ्गकान्तिकरणं मेदःकफालस्यजित्। (पृ० ५०८)

स्नान

सोमदेव ने स्नान की उपयोगिता प्रतिपादित करते हुए उससे होने वाले लाभ और उसके गुणों का सुन्दर वर्णन किया है, जो आयुर्वेद में प्रतिपादित सिद्धान्तों से पूर्ण मेल खाता है। यथा—

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आयुष्यं हृदयप्रसादि वपुषः कण्डूक्लमच्छेदि च।

स्नानं देव यथर्तुसेवितमिदं शीतैरशीतैर्जलैः।। (पृ० ५०८)

अर्थात् ऋतु के अनुसार ठण्डे या गरम जल से किया गया स्नान आयु को बढ़ाता है, हृदय को प्रसन्न करता है तथा शरीर की खुजली और थकावट को दूर करता है।

श्रमधर्मार्तदेहानामाकुलेन्द्रियचेतसाम्।

तव देव द्विषां सन्तु स्नानपानाशनक्रियाः।। (पृ० ५०८)

अर्थात् परिश्रम और धूप से पीड़ित शरीर वाले, इन्द्रिय और चित्त की व्याकुलता वाले आपके शत्रुओं की स्नान, खान-पान की क्रिया हो। अभिप्राय यह है कि जो शारीरिक श्रम व धूप से पीड़ित हों तथा जिनकी इन्द्रियाँ और मन व्याकुल हों उन्हें स्नान, खान-पान नहीं करना चाहिये, क्योंकि ऐसा करने पर अनेक उपद्रव हो सकते हैं, जो निम्न प्रकार हैं —

दृग्मान्द्य भागात्तपितोऽम्बुसेवी श्रान्तः कृताशो वमनज्वरार्हः।

भगन्दरी स्यन्दविबन्ध्णकाले गुल्मी जिहत्सु विहिताशनश्च।। (पृ० ५०९)

अर्थात् धूप में से आकर तत्काल पानी पीने वाला दृष्टिमान्द्य से पीड़ित होता है, परिश्रम के कारण थका हुआ व्यक्ति यदि तत्काल भोजन करता है तो वमन और ज्वर के योग्य होता है। मल-मूत्र के वेग को रोकने वाला भगन्दर और गुल्म रोग से पीड़ित होता है।

विधिपूर्वक स्नान करना और तत्पश्चात् करणीय कार्यों की सुन्दर विवेचना सोमदेव द्वारा **यशस्तिलक** में की गई है। देखिये —

स्नानं विधाय विधिवत्कृतदेवकार्यः संतर्पितोतिथिजनः सुमनाः सुवेषः।

आप्तैर्वृतो रहसि भोजनकृत्तथा स्यात्सायं यथा भवति भुक्तिकरोऽभिलाषः।।

(पृ० ५०९)

अर्थात् स्नान करने के पश्चात् विधिपूर्वक देवपूजा आदि कार्य करके स्वच्छ वस्त्र धारण करे और प्रसन्न मन से अतिथि सत्कार करके आप्त (विश्वस्त) व्यक्तियों के साथ उतना भोजन करे जिससे सायंकाल फिर से भूख लग जाय।

अजीर्ण

सोमदेव ने यशस्तिलक चम्पू में अजीर्ण चार प्रकार का बतलाया है। यथा—

१. जौ इत्यादि हल्के पदार्थों के खाने से उत्पन्न।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

२. गेहूँ आदि पदार्थों के खाने से उत्पन्न।

३. दाल आदि दो दल वाले पदार्थों के सेवन से उत्पन्न।

४. घृत आदि स्निग्ध पदार्थों के सेवन से उत्पन्न।

इस चार प्रकार के अजीर्ण को दूर करने के लिए चार उपायों का प्रतिपादन भी **यशस्तिलक** में किया गया है, जो निम्न प्रकार है —

१. जौ आदि से उत्पन्न अजीर्ण को दूर करने के लिए ठण्डा पानी पीना चाहिये

२. गेहूँ आदि से उत्पन्न अजीर्ण को दूर करने के लिए क्वथित (गरम) जल पीना चाहिये।

३. दाल आदि द्विदल पदार्थों के सेवन से उत्पन्न अजीर्ण को दूर करने के लिए अवन्तिसोम (कांजी) पीना चाहिये।

४. घृत आदि के सेवन से उत्पन्न अजीर्ण के लिए कालसेय (तक्र) पीना चाहिये। इसी को सोमदेव ने निम्न प्रकार से निबद्ध किया है —

> **यवसमिथविदाहिष्वम्बु शीतं निषेव्यं**
>
> **क्वथितमिदमुपास्यं दुर्जरेऽन्ने च पिष्टे।**
>
> **भवति विदलकालेऽवन्तिसोमस्य पानं,**
>
> **घृतविकृतिषु पेयं कालशेयं सदैव।।** (पृ० ५१९)

इस प्रकार **यशस्तिलक चम्पू** काव्य के तृतीय आश्वास में श्लोक संख्या ३२२ से ३७४ तक विविध छन्दों में स्वास्थ्य सम्बन्धी हिताहित विवेक का प्रतिपादन प्राञ्जल भाषा के माध्यम से जिस रूप में किया गया है उससे जहां ग्रन्थ की प्राञ्जलता लक्षित होती है वहीं ग्रन्थकर्ता के आयुर्वेदविषयक परिपूर्ण एवं परिपक्व ज्ञान का आभास सहज ही हो जाता है, क्योंकि यह सम्पूर्ण वर्णन आयुर्वेद के स्वास्थ्य सम्बन्धी मौलिक सिद्धान्तों पर आधारित है। आयुर्वेदशास्त्र मात्र चिकित्सा-विज्ञान या वैद्यकशास्त्र ही नहीं है, अपितु वह सम्पूर्ण जीवन विज्ञानशास्त्र है, जिसमें मानव जीवन की शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक एवं नैतिक प्रवृत्तियों की विवेचना, सूक्ष्मता एवं गम्भीरतापूर्वक की गई है। मानव जीवन के प्रत्येक क्षण की वृत्तियाँ आयुर्वेदशास्त्र में प्रतिपादित हैं। अतः यह कहना अतिशयोक्तिपूर्ण नहीं होगा कि वह आयुर्वेदशास्त्र मानव जीवन के सर्वाधिक निकट है। महाकवि सोमदेव ने इस विषय को जिस प्राञ्जलता एवं प्रौढ़ता के साथ अपने काव्य में निबद्ध किया है वह उनके भाषा ज्ञान की प्रौढ़ता का द्योतक है। प्रस्तुत चम्पू काव्य में लोकहित की भावना को दृष्टिगत रखते हुए ही सम्भवतः आयुर्वेदीय स्वस्थवृत्त की

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इस प्रकार प्रस्तुति की गई है। इस प्रस्तुतिकरण में कवि ने अपनी जिस मौलिक काव्य प्रतिभा एवं सारगर्भिता का परिचय दिया है, वह विलक्षण है, क्योंकि स्वास्थ्य सम्बन्धी, जो सिद्धान्त आयुर्वेदशास्त्र में जिस रूप में प्रतिपादित हैं उनमें से अधिकांश प्रस्तुत काव्य में प्रतिपादित किए गए हैं; किन्तु विशेषता यह है कि कवि ने अपने काव्य सौष्ठव एवं पदलालित्य के द्वारा विषय को अधिक सुरुचिपूर्ण ढंग से प्रस्तुत किया है।

आयुर्वेदीय स्वस्थवृत्त जैसे रूक्ष एवं गम्भीर विषय को अलङ्कारों की विविधता, रसों की प्रासंगिकता तथा छन्दों की सरस निबद्धता के साथ जिस प्रकार प्रस्तुत किया है उससे विषय की दुरूहता तो समाप्त हुई ही है उसकी रोचकता में अपेक्षित वृद्धि भी हुई है। ग्रन्थकर्ता की काव्य प्रतिभा का वैशिष्ट्य इसी से जाना जाता है कि यह गम्भीर और रूक्ष विषय को कितनी रोचकता एवं सरसता के साथ प्रस्तुत करता है। कविवर सोमदेव ने प्रस्तुत स्वस्थवृत्त प्रतिपादन में जाति, दृष्टान्त, समन्वय, हेतु, दीपक, उपमा, रूपक, आक्षेप, क्रियाक्षेप, क्रियादीपक, प्रदीपक, यथासंख्य, अतिशय आदि अलङ्कारों का आधार लेकर ग्रन्थ के काव्य सौन्दर्य में निश्चय ही वृद्धि की है। इसी प्रकार छन्दों में अनुष्टुप, इन्द्रवज्रा, उपेन्द्रव्रजा, मालिनी, वसन्ततिलका, शार्दूलविक्रीडित, वंशस्थ आदि के द्वारा न केवल लालित्य और सरसता को द्विगुणित किया है, अपितु काव्य और काव्य में प्रतिपादित विषय को सजीव बनाने के प्रयास में प्राण संचार ही मानो किया है। इस प्रकार काव्य प्रवण ग्रन्थकर्ता ने रस, छन्द और अलङ्कार की त्रिवेणी प्रवाहित कर जिस अद्भुत काव्य कला-कौशल का परिचय दिया है वह अपने आपमें अद्वितीय है। प्रस्तुत काव्य में आयुर्वेद की दृष्टि से विषय प्रतिपादन और काव्य की दृष्टि से छन्द, अलङ्कार आदि का प्रयोग इन दोनों का मेल उनके पाण्डित्य, मर्मज्ञता एवं रसज्ञता के अद्भुत सामञ्जस्य का सङ्केत करता है, जो विरले ही व्यक्ति में पाया जाता है।

इन सभी दृष्टियों से यह कहा जा सकता है कि **यशस्तिलक चम्पू** एक ऐसा सरस एवं मनोहारी काव्य ग्रन्थ है जिसमें आयुर्वेदीय स्वस्थवृत्त का प्रतिपादन अत्यन्त व्यवस्थित ढंग से किया गया है, जो ग्रन्थ की मौलिक विशेषता है। निश्चय ही स्वस्थवृत्त जैसे विषय को काव्य रूप प्रदान कर ग्रन्थकार ने आयुर्वेद के प्रति अपना अद्वितीय योगदान किया है। इससे एक ओर जहाँ आयुर्वेद को गौरव प्राप्त हुआ है वहीं दूसरी ओर जैनाचार्यों की आयुर्वेदज्ञता प्रमाणित हुई है। प्रस्तुत काव्य ग्रन्थ में विविध विषयों का प्रामाणिक वर्णन कर आचार्य सोमदेवसूरि ने अपने बुद्धि वैशिष्ट्य एवं बहुश्रुतता को निश्चय ही प्रमाणित किया है।

●

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्राकृत वैद्यक

(प्राकृत भाषा की आयुर्वेदीय अज्ञात जैन रचना)

ले० कुन्दन लाल जैन*

"नास्ति किञ्चिदनौषधमिह" के प्रवक्ता तक्षशिला विश्वविद्यालय के नव दीक्षित स्नातक जब गुरुदक्षिणा स्वरूप आशीर्वचन लाभार्थ गुरु जी के पास पहुंचे तो गुरु जी ने कहा कि तक्षशिला की चार कोस परिधि से कोई ऐसी वनस्पति ढूंढकर लाओ जो औषधि रूप में न प्रयुक्त होती हो। जिज्ञासु स्नातक छः माह तक तक्षशिला की परिधि में सारे वन प्रान्तर स्थित वनस्पति जगत् को टटोलता रहा तथा सूक्ष्म दृष्टि से अनुसन्धान भी करता रहा पर उसे एक भी पत्ती ऐसी न मिल सकी जिसका औषधि रूप में प्रयोग न होता हो।

ऐसे विशाल और अगाध वैद्यक ज्ञान के भण्डार भारत ने विदेशों में अपनी गौरव गाथा गाई थी, भारत का आयुर्वेद, ज्योतिष और दर्शन के क्षेत्र में विश्व में शीर्षस्थ स्थान था। सिकन्दर महान् जब भारत से वापिस लौट रहा था तो अपने साथ भारतीय दार्शनिकों, भिषगों एवं ज्योतिषियों को अपने साथ यूनान ले गया था और वहां इनसे इन्हीं क्षेत्रों में शोध खोज और ज्ञान की वृद्धि करायी थी। अंग्रेजों के आने से पहले हमारा आयुर्वेद विज्ञान सर्वसम्मत और सर्वमान्य था पर विदेशियों की ऐलोपैथी ने हमारी धरोहर को आभाहीन कर दिया। भारतीय वाङ्मय की श्रीवृद्धि में जैन सन्तों, आचार्यों एवं विद्वानों का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। पूज्यपाद स्वामी और आचार्य समन्तभद्र जैसे महान् मनीषी इसके साक्षात् उदाहरण हैं। आयुर्वेद के क्षेत्र में भी इनकी महान् कृतियां उल्लेखनीय हैं। पर हमारी प्रमत्तता और अज्ञता के कारण आज वे सर्वथा अनुपलब्ध हैं पर उनकी शोध खोज नितान्त आवश्यक है।

ऐसे ही एक अज्ञात आयुर्वेदज्ञ मनीषी श्री हरिपाल की दो कृतियां प्राकृत वैद्यक और योगनिधान शीर्षक से हमें एक बृहत्काय गुटके से प्राप्त हुई हैं। इस गुटके में लगभग ११८ छोटी-बड़ी, ज्ञात-अज्ञात, प्रकाशित-अप्रकाशित जैन रचनाओं का

*. श्रुति कुटीर, ६८ विश्वास नगर, शाहदरा, दिल्ली ११००३२

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

विशाल संग्रह प्राकृत, अपभ्रंश एवं संस्कृत भाषा में निबद्ध हैं। इन सभी रचनाओं के विषय में हम भविष्य में कभी विस्तृत प्रकाश डालेंगे। अभी हाल तो श्री हरिपाल कृत प्राकृत वैद्यक की ही चर्चा इस निबन्ध में करेंगे। प्राकृत वैद्यक का रचना काल पौष सुदी अष्टमी सं० १३४१ तदनुसार १२८८ ए०डी० ई० है।

जिस गुटके से यह कृति प्राप्त हुई है उसका विवरण प्रस्तुत है गुटके में कुल ४६४ पत्र हैं तथा पत्रों की लम्बाई २५ से०मी० चौड़ाई १६$\frac{1}{3}$ से०मी० है। प्रत्येक पत्र पर पंक्तियों की संख्या १५ है तथा प्रत्येक पंक्ति में अक्षरों की संख्या ३२-३३ है। गुटके की लिपि अति सुन्दर और अत्यधिक सुवाच्य है। काली और लाल स्याही का प्रयोग किया गया है। सबसे बड़ी विशेषता इसमें विराम चिह्नों के प्रयोग की है, जो हमने अभी तक अन्य पाण्डुलिपियों में नहीं देखी है, यद्यपि हमने हजारों पाण्डुलिपियों का सर्वेक्षण कर केट्लाग तैयार किये हैं जिनका एक भाग 'दिल्ली जिन ग्रन्थ रत्नावली' के नाम से प्रकाशित है शेष ७-८ भाग प्रकाशन के लिये तैयार हैं। विराम चिह्नों का प्रयोग इस गुटके की अति विशिष्टता है। इस गुटके के बीच में कुछ पत्र अत्यधिक जीर्ण-शीर्ण हो गए हैं। किसी तरह पानी में भीग जाने के कारण बहुत से पत्र आपस में चिपक गए हैं जिनको बड़ी सावधानी और परिश्रम से पृथक्-पृथक् करना ही होगा पर डर लगता है कि पत्र टूटकर फट न जावें।

सबसे बड़ा दुःख इस बात का है कि इस गुटके के आदि और अन्तिम पत्र प्राप्त नहीं हैं। अन्तिम पत्र तो अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है जिसमें लिपिकर्ता, लिपिकाल तथा प्रशस्तिवाचक सामग्री विद्यमान होती है। इस पत्र में ऐतिहासिक तथ्यों की जो जानकारी मिलती उससे हम वञ्चित रह गए हैं। यह हमलोगों की असावधानी और प्रमत्तता का ही परिणाम है।

लिपिकार प्राकृत और पराकृत शब्दों के अन्तर से अनभिज्ञ रहा अत: उसने 'प्राकृत वैद्यक' को पराकृत वैद्यक लिख दिया है। प्राकृत वैद्यक नाम कृति गुटके की पत्र संख्या ३९१ से प्रारम्भ होकर पत्र संख्या ४०७ पर समाप्त होती है पर बीच में पत्र संख्या ४०१ पर पराकृत वैद्यक समाप्तम् लिखकर "णमिऊण वीयरायं ...." गाथा लिखकर योगनिधान वैद्यक नामक दूसरी रचना की सूचना देता है और १०८ गाथाएं लिखकर पुन: पराकृत वैद्यक समाप्तम् लिखता है जिससे विदित होता है कि प्राकृत वैद्यक केवल एक ही रचना हो और योगनिधान इसका दूसरा भाग हो? पर यदि योगनिधान को प्राकृत वैद्यक का भाग माना जाए तो फिर "णमिऊण वीयरायं ...." वाली मङ्गलाचरण स्वरूपी गाथा का उपयोग क्यों किया गया है? दूसरे मङ्गलाचरण में स्पष्ट विदित होता है कि योगनिधान एक स्वतन्त्र रचना है और प्राकृत वैद्यक एक स्वतन्त्र रचना है, यद्यपि योगनिधान में प्राकृत वैद्यक की भांति रचनाकार का नाम तथा रचनाकाल आदि का कोई उल्लेख नहीं है अत: हमें दोनों कृतियों

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पर दो भिन्न-भिन्न निबन्ध लिखने पड़ रहे हैं। इन दोनों कृतियों की विशेषता है कि ये प्राकृत भाषा में निबद्ध हैं और रचनाकार जैन है और दिगम्बरी है और विषय तो आयुर्वेद से सम्बन्धित है ही। प्रमाणस्वरूप दोनों रचनाओं के दोनों मङ्गलाचरण हैं जिसमें जिनेन्द्र भगवान्‌रूपी वैद्य को प्रणाम किया गया है।

णमिऊण जिणो बिज्जो भवभमणे वाहि फेऊण स मत्थो

पुणु विज्जयं पयासमि जं भणियं पुव्व सूरीहिं।।१।।

योगनिधान का मङ्गलाचरण निम्न प्रकार है जिसमें वीतराग प्रभु की वन्दना की गयी है —

णमिऊण वीयरायं जोयविसुद्धं तिलोयउद्धरणे।

जोयनिहाणं सारं वज्जरिमो मे समासेण।।१।।

प्राकृत वैद्यक में कुल २५७ गाथाएं हैं तथा योगनिधान में कुल १०८ गाथाएं हैं। पर प्राकृत वैद्यक में योगनिधान की भांति अध्यायों का वर्गीकरण नहीं है। इसमें तो विभिन्न रोगों के उपशमन हेतु विभिन्न औषधियों के प्रयोग ही निबद्ध हैं।

अपना नामोल्लेख करते हुए कृतियों को गाथाबद्ध रचने हेतु कवि ने निम्न गाथा दी है —

गांहाबंधो विरयमि देहीणं रोयणासणं परमं।

हरिवालो जं बुल्लई तं सिज्झइ गुरू पसायणं।।२।।

रचना की समाप्ति करते हुए कवि अपनी अज्ञता और मन्दबुद्धि के लिए बुद्धिमत्तों से क्षमायाचना करते हुए विनय प्रकट करता है तथा अपने कर्तृत्व को प्रस्तुत करता है।

हरिवालेणय रयियं पुव्व विज्जोहिं जं जिणिद्दिट्ठं।

बुहयण तं महु खमियहु हीणहियो जं जि कव्वोय।।२५६।।

इस कृति के रचनाकाल को प्रस्तुत करते हुए कवि निम्न गाथा लिखता है —

विक्कम णरवइकाले तेरसय गयाई एयताले। (१३४१)

सिय पोसट्ठमि मंदो विजय सत्थो य पुण्णोया।।२५७।।

इति पराकृत (प्राकृत) वैद्यकं समाप्तम्

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

विस्मय की बात है कि कवि जैन होते हुए भी मधु और मूत्र प्रयोगों का उल्लेख बहुलता से करता है, नर-मूत्र का प्रयोग भी लिखा है। हो सकता है कि आगे आयुर्वेदीय सिद्धान्तों का महत्त्व अधिक रहा हो और धार्मिक दृष्टि गौण कर दी हो, यह भी सम्भव है कि स्थान भेद के कारण उपर्युक्त प्रयोग ज्यादा अनुचित न समझे जाते हों, अभी पं० मल्लिनाथ जी शास्त्री मद्रास की पुस्तक से ज्ञात हुआ कि तमिल प्रान्त में लौकी (घिया) अभक्ष्य मानी जाती है बहुबीज के कारण, जबकि उत्तर भारत में वह मुनि आहार के लिए उत्तम साग माना जाता है। ऐसा ही कोई विवाद उपर्युक्त प्रयोगों के सम्बन्ध में रहा हो। स्व० मोरारजी भाई स्व-मूत्र को चिकित्सा और स्वास्थ्य के लिए आम औषधि मानते थे, गुजरात में यह प्रयोग बहुत प्रचलित है। गर्भ निरोधक औषधि के लिए भी एक गाथा क्रमांक २४६ लिखी है।

गाथा संख्या २५५ से ज्ञात होता है कि कवि के समस "योगसार" नामक कोई आयुर्वेदीय ग्रन्थ रहा होगा जिसके खोज की आवश्यकता है। हो सकता है यह ग्रन्थ हरिपाल की ही कृति हो अथवा सम्भव है किसी अन्य की कृति का उल्लेख हो यह शोध का विषय है। यहां हम प्राकृत वैद्यक की २५७ गाथाएं अविकल रूप में प्रकाशनार्थ प्रस्तुत कर रहे हैं। कृपालु पाठकों से निवेदन है कि मूल ग्रन्थ को मेरी अनुमति के बिना प्रकाशन की दुश्चेष्टा न करें ना ही मेरी लिखित अनुमति के बिना कोई अनुवादादि कार्य किया जावे। सधन्यवाद

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्राकृत वैद्यक हरिवालकृत

रचनाकाल— पौष सुदी अष्टमी सं० १३४१

णमिऊण जिणो विज्जो भववभमणे वाहिफेडण समत्थे।
पुणु विज्जयं पयासमि जं भणियं पुव्वसूरीहिं ।।१।।
गाहाबंधे विरयमि देहीणं रोय णासणं परमं।
हरिवालो जं वुल्लइ तं सिज्झइ गुरु पसायणं।।२।।
वाडव गरु जावत्ती तजिय सुअहि कुसुम सम उन्ह जले।
पय कंकोलि णिवंसं णासे सिरवत्ति णासेइ।।३।।
सक्कर कुंज्झुम वंझा समभायं पयह संयुया पयह।
तोए खीर समाणं णासे पाणेण णिभ्भंती।।४।।
अइ दारुण सिर रोया हणु थंभं कोढ़ रोय णासेइ।
अवरेवि उद्धदोसा हरइ जहा तमभरं रविणा।।५।।
रवि रवीरेणय मासा भावण सत्ताइ देवि सुक्कविया।
पुणुदट्ठामसिकित्ता कडुतइले मत्थयं भरह ।।६।।
णासन्ति सयल रोया चामादय फोडया चेव।
खत्ताइंजेदुसज्झा मत्थस्सय णत्थि संदेहो ।।७।।
आवलयफलं किरवालरसं सुपवाड वीयाइं।
लक्खाचुण्णं सीसे लिविदा दारुण रोया पणासेई ।।८।।
वायविडंगापत्तय पिप्पलिमूढं सकक्कडा सिंगी।
रयणीव लाहा सिरलेवि समत्थ दोसहरा।। ९ ।।
विल्लगरुं जुधगुलयं विणट्ठ सीसो विलिवि धोवेह।
हुं तिहुं पीया पिहया केसाअइ णिम्मला सव्वा।। १० ।।
एरंडस्सयमूलं कंजिय पीसेवि लेविणे दिणे।
पंवाडहल अह कंजिय लेवे सिरवत्ति णासेइ।। ११ ।।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तइ लेण भिणघत्थं सुरदारो जालिठं जि भरणेण।
णासेइ सूल अवरं सिपि सिमियं कण्णिजं होई।।१२।।
कउई तूंवडी पाणी भरि धरियइं दिन सात पछइ।
पाणी की बूंद कानि घालियइ कानु दूखता भला होइ।।
रामठ सुंठी तुंवरु पडिकारिस सोलेम सुपलं णीरं।
चउपल सेसं पचियं पिकसा रुय णासं।।१३।।
वसुजट्ठी अडवाह जलपल कढियावि सेसवत्ती...।
खलु गुण तइल पलुविकसी रत्तंगी पविय कणरुय णासं।।१४।।
मक्कवरस कइवाइं ... यि रवीरोवि तेल सम पंच।
सेरयलोहल्लजहे पचिवो सुद्धोउ दुइ लेह।।१५।।
पासे रंतह कुट्ठचुणं मिलिऊण सीसभरणेण।
तिमिरासणं चाअंक्खुरुया सयल णासेह।।१६।।
अपमग्गमूल सिंधव मोत्थ सह घिसह तंत्तपत्रेण।
वहु चक्खु तत्थ भरिए पसमइ जह हुव वहुतोएण।।१७।।
सोहिंजण पत्तरसो म्हुणा सह नेडछिया हुंति।
अहसिय कणयर दल रसि अंजिय नयणाइं उवसमहिं।।१८।।
कीखंडचंदनु टं१ सैंधव टं२ हरडइ टं३
पलास का गुंदु टं४एते चूर्ण कृत्वा लोचननि पूरयेतपटलव्याधिनासयति।।
निजकर्णमल मधुसमेत आंख आंजियइ रात्रिअंध नासयति।
तरु लग्गां आवलहल सज्जरसे णावि णयण पूरेह।
जह तिमिरं सूरेणय तह तिमिरातिदोस पंजाइ।।१९।।

....

तिहलारसेण घसिया बंझा सहियावि काचसो हेइ।।२०।।
रत्तंदणुवि कुभारीलोयाणमल पुप्फ णासणं कुणइ।
वंझाजलेणघसिया पडवालं च फेडेइ।।२१।।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

चित्तय तिहल पडोला जव कत्थ मज्झि सोठि कर सोवि ।
पीवह पाडल फुल्लं वण रत्तछि दोस फेडेइ ।।२२।।
महुलट्ठि लोहु तिहला महुगुल सहिया विगुलय भर केह ।
गलकणदंतपीडा हणइ भयं दरुवि णयण रुजा ।।२३।।
सिंधवहरडइधात्ती गेरु समभाय चउरि (४) जलपिट्ठा ।
पिंडिय वाधय दोसो णासइ णयणस्स सव्वरुया ।।२४।।
अमरी मोत्थ पडोला भूणेव धमासउ जवा सोय ।
तिहला सणिंव छल्ली पप्पडउ कत्थयं पिवह ।।२५।।
हर ड ऐ ... रंड मूलं छायल रवीरेण सुहम पीसेह ।
चक्खू सूलं बद्धं णयणस्स णासेइ ।।२६।।
फे..ड..इ... मलवायं पित्तय फोडाय सन्निवायो य ।
वेसप्पीवि विणासइ इमो सहोमच्चलं... ।।२७।।
महु सक्कर सह पीया वासामूलं च कढिय चउभायं ।
णासइ रत्तंपित्तं पंडुरोयणाणि चैव ।।२८।।
तिवडू चित्तं तिहला गंठीयं लोहतक्क सहपीयं ।
तक्षी पाणे जुत्तं पंडुरोयं समोसरइ ।।२९।।
सहु तक्कर वडउत्ती दक्ख छुहारायं खद्धमहुलत्तं ।
अह दक्ख सुंठि हिंगं अहवा समपीय पंडुरुय हणइ ।।३०।।
एल कण तज ति टंके चउरो विस्साय मिरिय वेटकं ।
दहि सक्कर संजुत्तं चुण्णं पित्तं पणासेइ ।।३१।।
सरिसम उसीर धत्ती णियंवछल्लीय कत्थपीएण ।
रत्तं पित्त पणासइ कुट्ठ विणासो तहा चेव ।।३२।।
हरडइ वालउ धादइ कत्थं कढिऊण चउत्थ भाएणा ।
सक्कर सहियं पीयं सोणियपित्तं णिवारेइ ।।३३।।
पत्था वासउ दक्खा कत्थससित्ताय रत्तपित्तहरो ।
गुलमिरिया दहि पीय रसपित्तयं च णासेइ ।।३४।।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

किरवालं गुरिच वया एरंडतेलु विकत्थए घिवह ।
तं पीयंतो णासइ वाइयरत्तं ण संदेहो ।।३५।।
सरपुंसा णयमूलं तंदुल तोएण वट्टियंल एहं ।
रविवारेणय पिज्जइ रत्तंगालो पणासेइ ।।३६।।
जंभण जड तंदुल जल पीए मुहरत्त थंभणं करइ ।
अहि कंड्डु वरिमूलं तं जलि पीयावि तंजि अवहरइ ।।३७।।
हरडइ दाडिम फुल्ला दुद्धारस लक्खरसय समभाए ।
णासो णासइ रुहिरं णासारणि वियप्पेण ।।३८।।
गोहुमजड तंदुल जलि पिट्ठा मुहरत्तं थंभणं करइ ।
जाइदला मुहिधरिया अहवा पाचं णिवारेइ ।।३९।।
जावा से जड चुण्णं तंदुल जलिपीयमाणेण ।
थंभइ मुहगय रत्तं जहसीया णिसियरेपसरो ।।४०।।
तिहला सोंठि विसाला कडुय पडोलाय तायमाणो य ।
दो णिसि गिलोय कत्थं महु सह मुहपांचयं हरइ ।।४१।।
दारु णिसा गोक्खरूवं वे करिसाइं कढ़ियाइं पाणेण ।
णाडीवण मुहरोय णासइ जिम उनसमो रोसो ।।४२।।
मयणभुया सगुरीयं तंबोल दला सदारु जामीय ।
कलमीतंदुलजुत्ता फुट्टा अहराय उवसमहि ।।४३।।
विज्जवरा जाइदला एल धणा सुरही पिप्पली वाला ।
केलय महु सह लेहो किणर कलगीय झुणिहोइ ।।४४।।
जाइदला गयपिप्पलि महु सह माहु लिंग कयलीहो ।
किण रस राण सरिसो होइसरो मासमिक्केण ।।४५।।
सिंधव हरडइ विवुहा जीरय वय (वच) वाटवीय सिंगूय ।
पडिपल एक्क समाणा वत्तीस पलाइं तुप्पाइं ।।४६।।
अयपय पल चउसट्ठी तं चिय णीरोइ तुप्पयं पिवह ।
सारसत्तुप्पिय णामो पीयंतह बागवलु होइ ।।४७।।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इंदफलं घयदुद्धं च... उणं पंचंग पउम पल पंच।
तक्कं घय पीयं पिय पित्तहरं वलयरं होइ।।४८।।
लहुकंटि कायजंघा दुद्धी नाली सुनाली य।
एककय मूल चुण्णं दंते धरि घुणवता हरए।।४९।।
चरणंगुलि णहलेवे लंगलिमूलं च हणइ घुणवंता।
अहवा थोहरिमूलं मुहि धरिया तंजि अवहरइ।।५०।।
पुप्फर तरु गिघणह सोठी अभया य उण्ह तोयेण।
लन्हं करेवि चुण्णं पाणे सोक्खं पयासेइ।।५१।।
सुरदाली फलवीयं हलदरसेण पयहं तं चुण्णं।
तह तेलेण य णासोविसूकं कंठं णिवारेइ।।५२।।
गुल सुंठी एक्केकं वंधय गुलिया य अचलभव सोक्खं।
खासं सास हिलूकी वाइय वंधं विणासेइ।।५३।।
हरडइ कडुव वलाट्ठ पप्पडउ दक्ख कढिय किरवालो।
सह पिय दाहं पित्तं तिस भव सोक्खं पलाएइ।।५४।।
जाइह लेणय सत्तं सिय जल लिविय मुह छाय णासेइ।
कलयरउ तह किण्हा सरसिम वट्टिउव पेरगुणा।।५५।।
वरणेभुय अहदुब्धे मलिया मुंह कालिया गमइं।
अह चंदणु सपियंगू घुसिणु वयरिवीय तं हणइ।।५६।।
सत्त दिणे पिसिपीयं गोमुत्रे इंदवारुणी मूलं।
णासेइ गंडमाला अहसेय रायसिणि तोयेण।।५७।।
ल्हिस्साडय तरुछल्ली अट्ठासेसाय पीयमाणेण।
गंडमालाय णासइ अहवा फुट्टी अफुट्टीय।।५८।।
अह तयभायं मिरियाविज्जं भायं च जामेणी पीसे।
तेले सहा पलेवो णिहणइं गंडायमालाय।।५९।।
तंदुलजल सहाबंझा खीरे सह भक्खियंत।
णिम्भंतं सप्पिखया संजुत्तं गंडमाला पणासेइ।।६०।।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

हयगंधा कयकणा सेरिह लोणी सहाय कूठ वया।
मलिय सवण थण वट्टिवि अह वत्ति चवल जले णासो ।।६१।।
रयणि विडंग पटोला तिहला पडिकरसु अट्ठकप्पिल्ला।
णीलिणिसोय ति चउरो सविउवराजल सहा हणइ ।।६२।।
हिंग१ वयं२ चिय३ सोंठी४ जीरउ५ अभया६ पुक्करे७ कुट्ठो८।
विहइ दंतिणि सह दह इगिगं वट्टिय चुणोय।।६३।।
उण्ह ·जले सह पाणे णिहणइं उयरइ कोट्ठरोयाइं।
अवरे गुम्म विणासइ पयडो सद्दूल चुण्णोय।।६४।।
णेगडिजड सुरदारो हरडइ छिणाय एक जल अट्ठं।
तंकढियं पलुसेसं पल गोजल जोय पीवेह।।६५।।
उयरा अट्ठ विणासय रुयगय दासाइं सोजयं हरइ।
नेगडियाई कत्थं पंडू रोयं तहा चेव।।६६।।
एल तजं अहिकेसरे मिरियसकणा सोट्ठि एगगं चढ़िय।
सोलह सव्वर चुण्णो कोट्ठय कंठाय रोयहरो।।६७।।
जीरउ हिंगु जमोया सिंधउ विवुह कलयरउ भावेह।
विजउर रसि अहतोए अह घिय बहुलेण भुंजिज्ज।।६८।।
तं चुण्णं भक्खंतो पंचइ गुम्माइं सूल मंदग्गी।
रत्तं सिरह उवाया सव्वे रोयाहं फेडेइ।।६९।।
सुरदारो महु सुप्पं चुण्ण कुमारीय भक्खि जीरविए।
पच्छापाणं खीरे सट्ठीउंयणसुजुण्णोय।।७०।।
तिसिरउ पीवइ णीरं णासंकरं गुलीय कुट्ठोत्तिं।
तिं जो भेसंहि असझो वरिसिक्कि समूलउ जाइ।।७१।।
तिहल विसाल पटोला पडिकर संतायमाण कडु अद्धं।
सुंट्ठिद्धं कढ़िपीयं कुट्ठो सोजं पलाएह।।७२।।
गहणीदोस विणासइ हरिसा अइसार मुत्त दोसाइं।
अहषयरो णिंवरुया तरुणि सकसिया य णासए कुट्ठं।।७३।।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ससिराइ लिविभंडं गोमय लोणीय तहय महुजुत्तं।
अह तह तक्कं पाणं सियकुट्ठं चिरभवं जाउ ।।७४।।
मिरियाकुट्ठ विडंगा थोथउ रोरधाय मणसिला सांजी।
हरियालो गोमुत्तो लेवे सियकुट्टयं जाइ ।।७५।।
अभया पवाडवीण जवसु चुण्णेण मवउ कांजीए।
कच्छं दद्दु पणासइ लेवेणय संसरउणत्थि ।।७६।।
कूठु कणा तिव सरिसव वीय पवाडइ रयणि मोथाइं।
विवची पावक हेउ दद्दू लेवेण णासेइ ।।७७।।
विल्लस्समूल कत्थं दुद्धं तंदुल जलि अह पाणेण।
अहविछिणे भवकत्थं सक्कर सह छद्दि णासेइ ।।७८।।
कण जवखारु दुभाया दाडिम वसु सोलह गुलभाया।
विभाय मिरिय गुलिया चउ टंकहं खास अवहरइ ।।७९।।
कायहलो वय सिंगी रोहिस मुत्थाय स विसाय।
हरडइ समाण चुण्णेखद्धे खासं पणासेइ।।८०।।
महुसारं गोखुरुवं गोदक्खा कढिवि सक्करा करसे।
धत्ते विणुं कयपाणं खय खीणं मरुपणासेइ।।८१।।
हयगंधा पयपीए किसदे हा थूलयं च होएह।
आइसु. तिहला महुसह णासइ परिणाम सूलाइं।।८२।।
गोखरु वाजीगंधा खीरे खुद्देण लेहमाणेण।
खयखीणं मरु णासह होइ बलं वणु वलएह।।८३।।
एल वलाहा कुट्ठं काढह सम देवदारु भारंगी।
करसं२ घयगुड घाति पियह वाय जरुणासं।।८४।।
रत्तंदणु पउमाक्खं णिंवधणा रुयाधंणा गुरी चाय।
डाह तिसारुइ छद्दी कत्थं पित्तज्जर सिंभहरी।।८५।।
छिणोजयाकत्थं चउत्थभायं ससीसयं भरह।
किण्हा सह पीयंतो कफवाय रयणिजरं हणए।।८६।।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कट्ठह कडुव लमेकं करिसिक्कं तहय सक्कराधिवह ।
पेत्तं वाउ पणासइ चित्ताढयं सव्वजर णासो ।।८७।।
पुष्कर सढ़ि भारंगी कसिय धवा साइ कक्कडासिंगी ।
आढ्यपमाणं पिज्जं सले समवाय ज्जरो हणइ ।।८८।।
वायस जंघामूलं सूरदिणे लिंपि रत्तसुत्तेण ।
मणुव पमाणे वंधह कट्ठकरे जरस उवसमए ।।८९।।
चंदण कणयर फुल्लं कंजिय तिलसारि मासव देहं ।
किज्जइ सिहरेपलेउ (सिरहलेपउ) तन्ह जरं णासणं दिट्ठं ।।९०।।
भूणिंवो कच्चूरं अभया सम भाय दक्ख सह कढ़ियं ।
भाय चउत्थय पेयं मरुपित्तजरं पणासेइ ।।९१।।
वय सिंधव महुसारं पिप्पलिणासेण वायत्तं रोयं ।
अहमिरिया कंकोलीणासे तं जरु पणासेइ ।।९२।।
मिरिय वया महोसारं सिंधवकिण्हा स चुण्ण णासेण ।
जरमुद्धतं दीसइ कफु णासंतु णेव को धरइ ।।९३।।
पत्था कायहलो वय रोहिस णिंवोक लाय रोचेव ।
चुणगत्तुविमुद्दं सेउजरो जाइपत्तस्स ।।९४।।
छिणोभव समदक्खा सणिवाय जरं च उवसमए ।
कलयरउ गुड्ड भरकह णासावइ कप्फ वाय जरो ।।९५।।
वुहय घडर्ड कुलित्था सिंधव चुण्णं विडंग सम भायं ।
छायल मुत्ते पेयं हरइ जरो सणिवाएस ।।९६।।
णिंवोवुद तिहला सुरजव गुरिचा पटोल तह विवुहा ।
णिता रोहिणि पाठा कसियं चउ छ भाएण ।।९७।।
सणिवायं जर तण्हा पाणे किमिच्छद्दि सोकु अवहरइ ।
रत्तं हणइ समत्तं अणे वहुयाइं रोयाइं ।।९८।।
किण्हा चुण्णं गोघय अवलेहिय दाह खासु जर हणए ।
अहविस्सा अयदुब्धो विसम जरं णासणं तुरियं ।।९९।।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सुंठी मोथो सीरं सिय जरु डाहं विणासणं कत्थं ।
अहवय अइविसु कसिया छद्दीहेय सूलु उवसमए ।।१००।।
जीरय गुल एक्केकं अद्धमिरिय गुलिय भक्खमाणेवि ।
इगतरयं जरु णासइ णिद्दिट्ठं कप्पदिट्ठीहिं ।।१०१।।
भिंगारस्सयमूलं करवद्ध मसाण छार वामेण ।
तइमु जरुवि विहंजइ जहवाउ मेह जाभोवि ।।१०२।।
पीठवनी सुरदारो हरइ समधाइ णायरं कत्थं ।
महु सक्कर सह पीयं चउत्थतावं पणासेइ ।।१०३।।
घूवड पंखा गुग्गलु चुण्णं करिऊण किण्हकइ घडइ ।
तं ढंकिऊण धूवह चउत्थ तावं पणासेइ ।।१०४।।
धरत्तंदणु पउमक्खं वालय मोत्थं उसीर जल पिट्ठं ।
समभायं सिरधरियं पियास दोसो पणासेइ ।।१०५।।
कुमुवं कुट्ठं लज्जा वडपाहाय महुसया गुलिया ।
वयणे तं धरिएण विसज्ज पियासं समोहरइ ।।१०६।।
मोथो सीरं चंदण पप्पडउ सुंठि सम कढ़ियं ।
पिय पित्तेण य डाहं पियास मुच्छा पलावेइ ।।१०७।।
रासण सुरतरु अमरी सयवरि सट्ठी पुणणवा सोंठी ।
गोखरु एरंड कत्थं संधिगउ आस मरु हणइ ।।१०८।।
रासण अइविसु दुलहा एरंड वुहा सयावरी छेणा ।
सुरतरु वयां स अभया विस्सा सम कत्थयं पियह ।।१०९।।
वायं कुट्ठ सलेसम कुज्जय वावणय पक्ख घाउया ।
सूल जलोयरु विद्दहि लहु रासण सव्व मरु हणइ ।।११०।।
चउकत्थं च पुणणव सढि सोंठी सहवि आम मरु णासं ।
अहजय जाठिम सुंठी खीरे सह णासए तंपि ।।१११।।
अयमग्ग कयलिय खारं अहवा वंझाय कयलि खोराय ।
तइल पलेवे छद्दणु णासइ अह गो जले वंझा ।।११२।।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पप्पडिवीयं लक्खा आवलया सकरवाल पत्ताइं।
जल पिट्ठा सिरलेवो उवहासय णासणं दिट्ठा।।११३।।
वालउ सरसिम रयणी कूठु तिला एक्क करिवि समभाए।
जल पिट्ठा तणुलेवे दुग्गंधा णासणं भणियं।।११४।।
मोथो सरं च चंदण पत्तय कुंकुम कंजिए पिट्ठा।
गत्तेणय उद्धरिए दुग्गंधं सयल अवहरइ।।११५।।
जंबूफल दलरोहिस फुल्ला तणु उवटि णिम्मलो होइ।
अहणेगडि दल वयणोधरेया जासंठि दुगांधा।।११६।।
णिंवं दाडिम सरिसं सव्वं छल्लीय कूठु जल पिट्ठं।
रयणीसहा सरीरो उवहोसं सव्व रुय जाइ।।११७।।
सुंठि कुमारी णासे गोमुत्ते णाविमुक्क गंहुहरइ।
पहुलेवे अहपाणे णासावइ सव्वरुय वंझा।।११८।।
वंझा सभूयंकेसी वालय पणे सभूय गहु हरए।
दूधीजड गलिवद्धा वालय सुहे उट्ठदे दंता।।११९।।
गोरोयण सह किण्हा सिंधव महुणा समं च चुण्णेण।
तेणसु अंजिय णयणा भूयग्गह णासणं दिट्ठं।।१२०।।
दाडिमतह वसुभायं लोयणवंसा पयेण तजपत्रो।
अहिकेसरि समुत्तं पंचविभापाइ एयाइ।।१२१।।
पिप्पलि पिप्पलिमूलं जवयणि जीरोय सोट्ठि इगभायं।
सव्व समाणं सक्कर भक्खिज्जा सूर उवएण।।१२२।।
पायंगुम्मो गहणी हरिसा अइ सारया मुणासेइ।
दाडिम अइ चुण्णं पिय भासिज्जइ कप्पदिट्ठीहिं।।१२३।।
अद्धेला तज अद्धं मिक्कं तालीस मिरिय तहं युम्मं।
विस्सकणा तइ चवरो वं रायेण पंचमेलेहा।।१२४।।
सक्कर सम तइ टंकं भक्खता खास सास जर णासं।
गहणी अरुई फीहा छद्दि अइसार जठरोय।।१२५।।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

धाभय कय पच्छा चउदह तइ तइ जुउ देह रवि।
खीरे वज्जी पीयं जट्ठी तिहला य गंड दूवाय।।१२६।।
कयवय भातिल चित्तय भगारय सूरण विणि कंटाली।
मेथिय कांजिय सह पुणु तेडुव थुडिकिय पंच पल अव्भा।।१२७।।
तजवु वि लवंग देवे सिययण्णा चालीय जाइहलमेकं।
पडिकरसं करसंलियं सव्वाहरेण सल रुव गवहा।।१२८।।
हरडइ गुड सोंठि समं गुलिया सव रोय णासेइ।
अह हरडइ गुल गुंज्जिया तं रुय सव्वं पणासेइ।।१२९।।
लवंग तज एलकणा पलु चउसट्ठीय सक्करा पंच।
कंपणु हरि संफीहा पंडू खासाइ णासेइ।।१३०।।
अजमोय मिरिय किण्हा चित्त विडंगाय देवतरु मूढो।
सेंधव सउंफा पडिदुइ विहदू रउ बीस दश पच्छा।।१३१।।
वेपल विस्सा चुण्णं समगुल मोयाइ अद्धुपल दिवसे।
भक्खिवि एक्कु सराउ उण्हं णीरो च पावेह।।१३२।।
आमं अमेल विसूई कडि गुद पुट्ठि पुडणं पवित्तणयं।
जर सिंभ पंडु वाया दारुण रोया पणासेइ।।१३३।।
सउचल रसेण विस्सा मिरिया जवणीय किण्ह जवारं।
महु सह गुलिया कित्ता भक्खे गलरोय णासेइ।।१३४।।
तेजव तिरोय गोथं पिप्पलि तयरं च चुण्ण मुहमुद्दो।
सम भायं कारित्ता आरोचय णासणं भणियं।।१३५।।
पंचलवण जवखारं विवुहा साजीय मूढु चव्वीय।
अग्गि अजमोय रामठ सव्व समा चुण्ण भावेह।।१३६।।
विज्जवरे अहवेरे दाडिम रसेण अह उण्ह तोएण।
तं चुण्णं भक्खिज्जइ अग्गियरो हियय रोय हरो।।१३७।।
किरवाल कडुव अभया गंठिय मोथ कसिय सम पीयं।
मंदग्गी मरु गहणी सुसंधि फुट्टणं विणासेइ।।१३८।।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अइविस वलाह सुंठी विण्णोजाय सम कत्थयं पीयं।
मरु रोयं मंदग्गी णासावइ संधिफुट्टणिया।।१३९।।
सिउंचलु सुंठी हिंगू जवरस पीएण सव्वसूल हरा।
जठरत्ता मंदग्गी मिलसंगह रोय फेडेइ।।१४०।।
अभया संयचलु सुंठी हिंग समादक्खरस समापीए।
जीवदया जह कुमई तहणासइ पंचसूलाइं।।१४१।।
सोफ कणा महुलेठी वालो विल्लोय पुखरो कुट्ठो।
मयणलह वय सुरतरु सढि चित्तय पडि पलं अद्धं।।१४२।।
सुलह तइल पय दुगुणं पचिया सोणाडि पुडण गुदसूलं।
मरु मूढं कलिसूलं मुत्ता पहरस हणेइ वित्थंभो।।१४३।।
एरंडोवि गुरीचो णेगडि सुरतरु सरासणा सोंठी।
चउभायं करि पीयं धणंहर वार्उ पणासेइ।।१४४।।
रासणि णेगडि वालउ एरंड जडाय सहयरो कत्थं।
तं सीयं पीयंतो गिज्झो वार्उ पणासेइ।।१४५।।
सुरतरु रासण विस्सा छिण्णो भव कत्थयं च पीवेण।
मारु वाउ पणासइ अत्थि मज्जा संधि पत्तोय।।१४६।।
रासण णेगडिमूलं देवतरु गिलोइ सोंठि समकढ़ियं।
पाणपहं जणु णासइ अत्थि मज्जा संधि रहिर्उवि।।१४७।।
णेगडि विस्सा अभया पुखर कत्थं च पीय दिण सत्तं।
धुणइ समीरण वायं जह सीहो करडि संधाउ।।१४८।।
वालउ वेलु गिलोया सुरतरु विस्सा वि कढ़िय पाणेण।
गमइ समीरण मारु रावण पसरुज्जं वलणारी।।१४९।।
अभया अमरी चुण्णं ससि पल पाणेण करस माणेवि।
हरइ पसूई वायु अवरे वायाइं सयलाइं।।१५०।।
सुंठी गुरीच अतीसा मोथ सहा पिएविरुक्ख आहारो।
दालिसभत्तं सिंधव यसुइ मरु जरु हणि अग्गिजा करइ।।१५१।।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

हरडइ वलाह किण्हा मिरिया पडि कक्खिरसु गुलपलं चारि।
गुलिया भक्खिय माणं गुद अइवाय विहुणेइ ।।१५२।।
समभिल्ला रयकिण्हा किण्हा मूलं च अट्ठयं पियह ।
सयूलं करेवि कत्थं वायइ थंभं णिवारेइ ।।१५३।।
वेरिंगिणिया सिण्हा पुखर किण्हासु तिणि पडि टंका ।
कसियं अट्ठम भायं सव्वंगं वाय विहुणेइ ।।१५४।।
घय सहु सय कंकोली उण्हय णीरेण पीयमाणोय ।
वाउजो विक्खाउ अप्प समारो पणासेइ ।।१५५।।
किण्हं कणरस तेलं समकरि पवि उण सुद्धयं लेह ।
चोपडिएण सरीरं राहणिवारउ पणासेइ ।।१५६।।
पुष्कर कुट्ठं पण यण करसु उडिददालि रावि रसु लेह ।
सम तइल पचिय सुद्धं चोपडिए सरणि मरुजाइ ।।१५०।।
अभया रसणी सुंठी अहयर अयमो सयावरी हउ कावि ।
हयरई हयगंधा सउंचलु मूली एरंड मूलाय ।।१५८।।
सुरतरु मोथ तिटंकं दिण दिण माणेण पाणेण ।
रोयं सव्व पणासइ भयंदराई समासेण ।।१५९।।
खीर सहा अहघय सह उण्हय तोयेण संजु या अहवा ।
एक्कंगं सव्वंगं सुक्कं थक्केइ हणइ उरथंभे ।।१६०।।
दुद्धरुयातिग थंभं हणुगंठी वायरोय पित्ताइं ।
थीवीयमुत्त किछा अभयाई सव्व भय ·हणइ ।।१६१।।
वस्तु१८कंजिय सह कडुतेलं लोणिय सरिसोवि मद्दणं करह।
तेणा भंगिय गत्तोमरु जरु रत्ताइं दूसेइ ।।१६२।।
सुरजव कुंडवु समंगा वसुगुण तइलेसु कंजिए छगुणे ।
कडु परिए तणुलेवो दारुण दाहं जरुं हणइ ।।१६३।।
वुद सिंधव रिंगिणिहल महुजेट्ठया पीसि पाणिय ।
कलएलावि वणिज्जेइ णिंदक्खमाऊ पणासेइ ।।१६४।।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

चेक सेणी मूलसिखा वद्धें णिंदयं होइ।
खयरं मणसिल गंधं हरिदाल सपत्त णीर खीसेवि।
लेवेणा णिणासइ वरुणव फाकाय संभूय।।१६५।।
सुरवइ वारुणि मूलं गोपयमुत्तेण वट्टि पीवेह।
साहणधम्मंकीला उवसामइ तहवि पाणेण।।१६६।।
पुडपविय तिहला चुण्णं लिंग सिर धरिय पुरिस रुय जाइ।
पुंट जुगं जलि पिट्ठं लिंगे धरिएवि तं हणइ।।१६७।।
रस अंजणि अभया जलि साहण कीला पणासेइ।
सुरदालि कडुव मूलं तक्क पलेवेय हुक्कहो होइ।।१६८।।
अह सरसिव कर जगुली जललेवि तिदोस पटुकरहं।
पत्त कुवारि दुहाडं करिवद्धा चम्मकीलया गवइ।।१६९।।
महुजट्ठी दोरयणी महर्उ सहियावि कूठ जल जुत्तं।
फेडइ तण वण आई सयरे दोसाइं सज्झइं।।१७०।।
इंदेणि जड पय एरंडतेल सह पिय कुभंडयं हरइ।
अहई सरिज लिपिट्ठा कणेणय विंधियं अहवा।।१७१।।
कास जड धवासा पप्पडउउ रिंगिणि कढियए पीए।
सीयला करेवि मणुवे कामुव पीडा पणासेइ।।१७२।।
पिप्पलि पिप्पलिमूलं सोंठि सम जुवंच कयपाणं।
सुरही जलेण सहियं सिद्धत्थं हरइ सुरभेयं।।१७३।।
पाठाजड गोखीरे पाणे सुरभेउ णासेइ।
तंदुलजलि अहिपाठा पाणेणय विद्दही हणइ।।१७४।।
महउं सहि इग भायं कणा वेभाय भक्खिए णसया।
विस भक्खणु जं कीरइ जीर वियइ अचिरकालेण।।१७५।।
पाणं जलेण लेवे तंदुल जल सहिय वंझ कंकोली।
विस णासणु संदिट्ठं काले दट्ठोवि जइयावि।।१७६।।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

गुंज... विणि दसा अभया तितयम्मि गुलपलं भेक्कं ।
एयाण कुणह गुलिया जाई हलेण पमाणाइं ।।१७७।।
सहमाया अमुणिया तं पाणेण कं महातव्वी ।
तक्खणि उण्हं तोयं पाविज्जह पट्टयं एक्कं ।।१७८।।
पट्ठा होय चिरोयं चइ सइंजइ किं पिसत्तणा दिण्णं ।
तच्छहोदिणा वसाणे उण्होवि करंवर्उ देह ।।१७९।।
वीयदिणे पड्डिकं देह पुणु उण्हतोय पाणेण ।
जीरय लोणविहीणा करवर्उ भोयणे देह ।।
हरिवारुणि चउ लिहणेणावि हणइं दुखवंतं ।
पुणुसेरहि दहिमाथोत्तं पीए पुणुवि पीवेउ ।।१७९।।
कडु तुंविणि कुम्हिंडा तोरय खीरेण वीयवे करसा ।
वे करसविराली इगकरसो रत्तिया खंडं ।।१८०।।
खीर सहातइ सत्ते तं चुस्यं पाणपण रविउदए ।
दूखवता णिणासइ पंथो धरिएण सत्तेण ।।१८१।।
अधकरसं जवखारं धत्ती करसम्मि... टंकणं पायं ।
वट्टिवि धरेह चुण्णं टंके पाहाण भेएण ।।१८२।।
सक्कर समाण संधइ खवतं णासए तुरियं ।
गिंभेणय तक्क सहा पुणु पयसहलेवेतं हंणइ ।।१८२।।
अनदक्खा गोथणिया कढ़िया कर सोवि सक्करा सहिया ।
पीयंतो विवि विणासइ रत्तलयं मुत्त किच्छाय ।।१८३।।
अंभया पलास छल्ली गोखरुव जवासर्डवि वडउत्ती ।
महुकरि साढयं णासइ खीणंडा होय मुत्तरया ।।१८४।।
कंदविरालिय चुण्णं तयतेले तक्क सह विमेलेह ।
तं भक्खिज्जइ णूणं मुत्तणिरोहो णिवारेइ ।।१८५।।
अहलक कोली मूलं कत्थं कट्ठेवि लेह चउ भायं ।
सियलं करेवि पीयं मुत्तदोसो पणासेइ ।।१८६।।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कंजिय सीणा केसू उरिवद्धा मुत्तथं भवारेइ।
घय पय पक्वा थंभइ मुत्ताणि रोहोय।।१८७।।
सोत कच्चूर दिणं अह वग्घरिय उरिवद्ध कंजीए।
अह कोद्वाणय मद्दी हिंसमद्दी मुत्त थंभहरा।।१८८।।
पच्छा धादय सेहा पित्तपमेहाइ महुसहा हरए।
अहछिणा सारिम महु णिसधत्ती रसमुहोअहवा।।१८९।।
मूसलि जल तरु चुण्णं कुम्हेड वीयाइं रत्त खंडं च।
क्षिण्णो भव सम चुण्णं कोरय भंडेण धारेह।।१९०।।
आम पए सहपाणं रत्तं किण्हं च अहव सेयं च।
अट्ठ दसा परमेहा णासंतहं णत्थि संदेहो।।१९१।।
धारोसुखीर अयमगा पीय विस्सा भूणिंवो मोथ पडि पलं अभया।
छह पल गुल सह गुलिया भक्खंतो हरिस, करिसेइ।।१९२।।
वे सुंठी वे मिरिया वसुचित्ता... सूरणोवि खड दहिया।
अडवीसगुलं गुलिया दुस्सह हरिसाइं अवहरइ।।१९३।।
विणिपलाइ णिसोया हरउइ सविडंग आंवला तिण्णि।
बारह पल गुलगुलिया हरिसाइं रुवाइं फेडेइ।।१९४।।
विस्सा सह जवखारं चुण्णं सह तक्क पीय हरसहरो।
एवं णाऊण पुणो करिज्जए एरिसं चुण्णं।।१९५।।
तिहल पटोल विसाला पडिकरसं ताय माणु पडिअद्धं।
सोंठि सहाढ्य णासय गुज्झ हरिसोय लेवेण।।१९६।।
सुरजव विसाल पिप्पलि चित्तय अपमग्ग भूणिंवो।
सिंधव सह दूणगुणा गुलिया गुद हरिस णासेइ।।१९७।।
धादइ लोहु अतीसा मोथ समह आवले हए वालो।
मुहिदंतो वहिरत्तं अइसारं णासए णूणं।।१९८।।
तेडू धणा जवाइणि दाडिम जीरा स कक्कडा सीगी।
तज सिंधव अहिकेसरि घणपत्ता एल तित्तिडिया।।१९९।।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सव्व समं तवीरं पुणु सव्व समाय खंड मेलेह।
वालू णय वेयणियं वलं च पुट्ठिं च बंधेइ ।।२००।।
णिंवदला आमलया पाणिय पिट्ठाइं मोयया करह।
णिव्वाही णिण्णासइ खज्जंतो रोय महिएण।।२०१।।
ढेढसजडमहु सहिया रत्तंती सारई पणासेइ।
चउलहणे वडरोहा तं केणिय हणइ अइसारो ।।२०२।।
इंदजव दुद्ध वेलं विस्सा अइविसु कत्थ चउ भेयं।
अइसारं सहमूलं रत्तपवाहं च फेडेइ।।२०३।।
हरडइ दाडिम पाढा तित्तिडिया उण्ह तोय जुत्ताय।
तं चुण्णं पीविज्जइ सूलो अइसार उवसमइ ।।२०४।।
णागर अइ विसु केण्हा वुद मिरिया हिंगु सम बलं पाढ़ं।
पीएणय अइसारं पक्वामस्स विणासेइ ।।२०५।।
मोथ कडू पप्पडई भूणिंवो छिणजाय सह कसिउ।
पाणेणय णिण्णासइ पित्तं अइसार ताईय।।२०६।।
अरलूसा पलवीसं खोटिवि वडपण्ण सूत महिसिंगु।
वेढिव पुडिरंसु लिज्जइ तं महु सहिईवि भक्खिज्जा।।२०७।।
रत्तलई अइसारो अवरेहु सत्झहुंति अइसारा।
ते सव्वेवि पणासइ अरलू छल्ली पसेएण।।२०८।।
अरलू महिसीगोमय वेढिवि पचिउवि तंदुला णीरे।
वड्ढिवि महुससभक्खय णासइ रत्तं अखंडोवि।।२०९।।
मोथ कुडय सम महुणा सह गुलिया करि तंदुल जले पीयं।
रत्तं अखंड मोडा अइसारं लहुक्खयं लेइ।।२१०।।
मोडिव दल वर भुन्निंवि ठेकरए पिसिव वास जलपीयं।
तइ दिण करं व भायं जीरे सह मोडयं हरए।।२१२।।
वुद अइविसु भारंगी दारु णिसा सोंठि वय समाकढ़ियं।
महु अवलेहे णासइ कफ वाय भवोवि अइसारो।।२१३।।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जाठिम रोध कयत्थं दाडिम तज वीय तंदुला तोए।
पीयंतो विवि णासइ अइसारो वाय पित्तेसु।।२१४।।
पाढ वया जा विवुहा कुट्ठं कुडउवि उण्ह तोएण।
पाणेणय णिण्णासइ कफस्सं अइसारउ णिच्चं।।२१५।।
रोधं जाठिम उप्पल सक्कर महु दुद्ध छाय सह पीए।
णिस्संदेहो फेडइ रत्तलउ पित्त अइसारो।।२१६।।
कुडंउ अइविसु धादइं सुरजव रस अंजणोवि विस्साय।
तंदुल जल महुपाणे पित्त अइसारउ जाइ।।२१७।।
अभया इंदिणि पुष्कर दारु णिसा वास सारु किम मारो।
सिंधु ज गुरिच धमासा अपमग्गे णायकेसरं चित्तं।।२१८।।
विस्सा णिंव वराही गुडउ जमाणीयं कंट कारीय।
सम अट्ठं संपीयं दशमूलं कुसुरकं णासं।।२१९।।
अभय२ कडू१ कणमूलं१ रेणुव४ चित्तं५ कमेण वट्टीय।
भक्खंता उवराई गुम्मा फीहाय कुसरकं हणइं।।२२०।।
सक्कर णिसुय पलेक्कं उण्हजले पियवि पुणुवि तं णीरं।
अह तिहला उण्ह जले पाणेण विरोयणं होइ।।२२१।।
सेहडि सत्तं भावेवि किण्ह गुली खद्धरेइ जइ अहेयं।
दइ हिंगं वियटंकं दहिर्ड णय भोयणं पच्छा।।२२२।।
णिहुणग पएग भाविवि पूंगफला तवोलयं खद्धा।
दिणि दिणि होइ विरोउ उप्परजुत्ती अकारिज्जा।।२२३।।
उण्ह जले हयगंधा तयटंकं देह भत्त पयभोजं।
अह चउ टंकं कुट्ठं रेयइ जदिवद्ध कोट्ठोवि।।२२४।।
सुरतरु सेंधव कुट्ठं धाणी हिंगं च पलुप लंघीयं।
वारह जव इग तइलं कजिय पक्वेणं खट्टेणा।।२२५।।
तत्तं उवरिं वद्धं विसम मलं सूल वाइयं हरइ।
कुट्ठी सूल विणासइ इमो सहो देवदाराहं।।२२६।।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

विलवंतं कंजीए सीणा वद्धाइं उवरि उवरगुणा।
अरणीपत्त स कंजी तह विह वद्धाइं मलचयए।।२२७।।
पेट्ठमजा घय पक्वा पेटे वद्धाइं वेयणा हरइ।
उण्हीकय वव्वरिया अह वद्धा सव्व मल णासं।।२२८।।
णेगडि तुलसी णिंवा सिंगूदल इगिगि कंजिए तत्ता।
अहवा दिणयरपत्रा सिंधवभरि उण्ह मलणासा।।२२९।।
विणिपलं जवखारं कंजिय कुटाइ अट्ठ जव उवरो।
वद्धेणय मल वंधं णासेइ जहा मुणी रोसो।।२३०।।
णियाजमोय सउंफा वय उवक्कुं चाय छण वीयाय।
आमल खाय हरीतय सूंठि सउंफाय कणय खारोय।।२३१।।
किण्हजडा हयगंधा चित्त जमणीय पुष्करं मूलं।
तेवइ साजी कुट्ठं सूरण सिंधं च जवखारं।।२३२।।
उवहि कमल विड लवणं पडिकरिसो सह विडंग सारं च।
दाडिम णिसोय छहयं चउ संकर करस किय चुण्णं।।२३३।।
तक्क समाणय पाणं सव्वो उवराइं णासयं लेइ।
सतपण्णी रस गुलमे मलगहि दहिएहि अहव मंडीहि।।२३४।।
दाडिम रसदुन्नामा अज्जिणे उण्ह जल पाणो।
सासो जाइ भंयंदरु पंडुरोयं च खासगल रोयं।।२३५।।
वायजरं हिदरोयं गहणी कुट्ठाइं सव्व विसहरइ।
पीवंतहं अणवरयं णामं गाराय चुण्णोय।।२३६।।
सिंधु रजमाइणि रजमोय३ कण४ सुंठी५ इमग वट्टीअ।
पण२ हजय१२ जलउण्हो पहणइ गुम्म मल सूल मंदग्गी।।२३७।।
पंचपला स च मुंडी णीरोयल असिय सेस दस कत्थं।
वीस तइल एचि सुद्धं पाणेलेवेण घणथणाहोहिं।।२३८।।
चंदणु सीर पयंगो वडरुह धाइ य कुमुय महु जडीय।
पउमकुसुम सहकयली तंदुल जलि पयरु णासेइ।।२३९।।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वासउ गुरिच विराली सयपरि कत्थं पिएइ णारीया।
गब्भहो चलणु णिवारइ पयरं वारेइ णिब्भंतं।।२४०।।
महु सह धादय चुण्णं अहतंदुलि तंदुलोय पीएण।
अहव तिलक्खा अय पय पयरं वारेइ इक्किक्कं।।२४१।।
तंदुलि मूलिरसं जणु तंदुल तोएण पीयमाणेण।
सव्वे पयर पणासइ णिद्दिट्ठं सत्थइत्तेहिं।।२४२।।
वास णेगडि मूली वकाइणि करे लिणि समा तेले।
पक्वेणय तणुभंगे गम्भो पडणोण संभवइ।।२४३।।
एरंडस्सयतेलं पयपीए हरइ अंडविद्धीय।
अहवासेजड णाही लेवे सुहि पसवए णारी।।२४४।।
अमएतरुजड तक्को तिय पिय किसंग थूल खणि हवइ।
अहव कसेरु चुण्णं महु लेवे उवरु खयडेइ।।२४५।।
अहव करेलीमूलं पाणिय लेवेण णिग्गये जोणी।
अह सिंधव तेलजुई भंगिलि विरमि गम्भु न होइ।।२४६।।
हयगंध हिंगु सिंधव कंजिय कढ़िया सुह पसंवए पीए।
अह उंगा जुव पण्णा जोणिधरिय सूलु णासेइ।।२४७।।
वणिपत्ता ललिविट्ठा एरंड तेल लिवाडि जोणिधरो।
अहवा पुणणव अंजणु जोणिधरिय सूलु णासेइ।।२४८।।
पीपलि गुट मयणहला कंडु तुंविणि वीय दंति जवखारं।
थोहरि पय धरि जोणी फुल्ल पवाहो गई होइ।।२४९।।
विहइ जड मयण वासा पीयल खारेण गुलिय दिण सत्ता।
खब्बेसु जोणि धारिए फुल्ल पवाहो गई होइ।।२५०।।
सीह मुही दलमूलं छाया सुक्केण चुण्ण खीर सह।
इग सत्तेणय पीए अडदह कुट्ठा पणासंति।।२५१।।
दाडिम कणा महोसहि सिंधव वय कुठु हिंगु तव चुण्णं।
उण्ह जले सम सत्ता पीए चुल सीदि वायहरा।।२५२।।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अहणिक्केवल चुण्णे उण्हय णीरेण पीय माणेण।
सत्त दिणा कम पत्थं फीहय गुम्माइं फेडेइ।।२५३।।
वंझामूलं रयणी पीठा थण लेवि पीड णासेइ।
लहु इंदाइणि जड अह घण लेविय तंजि अवहरइ।।२५४।।
हरडइ वाति समं जलि तेण सुणीरेण पक्खालिज्जा।
लिंगे वाहि पसामइ भासिज्जइ जोयसारे हिं।।२५५।।
हरिवालेणय्र रयियं पुव्व विज्जेहिं जं जि णिद्दिट्ठं।
वुहयण तं महु खमियहु हीणहियो जं जि कव्वोय।।२५६।।
विक्कम णरवइ काले तेरसय गयाइं एयाले।
सिय पोसट्ठमि मंदो विज्जय सत्थो य पुण्णोया।।२५७।।

इति पराकृत (प्राकृत) वैधकं समाप्तम्

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

श्रमण

आचार्य हरिभद्रसूरिप्रणीत उपदेशपद एक अध्ययन

*डॉ० फूलचन्द जैन प्रेमी**

प्राकृत भाषा भारत की प्राचीनतम उन भाषाओं में से एक है जिसे अनेक भाषाओं की जननी होने का गौरव प्राप्त है। यह वह भाषा है, जिसके साहित्य में जीवन की समस्त भावनायें व्यंजित हुई हैं। भारतीय शिक्षा, संस्कृति, सभ्यता, समाज, धर्म एवम् अध्यात्म आदि का यथार्थ ज्ञान-प्राप्त करने के लिए प्राकृत-साहित्य का अध्ययन बहुत आवश्यक है। प्राकृत भाषा और साहित्य तो जैन धर्म का प्राण है। यही कारण है कि जैनाचार्यों ने आचार, विचार, व्यवहार, सिद्धान्त एवम् अध्यात्म को सरल रूप में समझाने एवं तदनुकूल जीवन ढालने की दृष्टि से प्राकृत भाषा में उपदेशप्रधान धर्मकथाविषयक साहित्य का प्रणयन किया और नैतिक उपदेश, मर्मस्पर्शी कथन एवं लोकपक्ष का उद्घाटन करते समय सरल, स्निग्ध तथा मनोरम शैली का उपयोग किया।

उपदेशप्रधान कथा साहित्य की समृद्ध एवं गौरवपूर्ण परम्परा है। धर्मदास गणिविरचित **उपदेशमाला**, **हरिभद्रसूरि** का **उपदेशपद**, जयसिंहसूरि का **धर्मोपदेशमाला-विवरण**, जयकीर्ति की **शीलोपदेशमाला**, मलधारी हेमचन्द्रसूरि की **भवभावना** तथा **उपदेशमाला प्रकरण**, जिनचन्द्रसूरि की **संवेगरंगशाला**, **आसडकृत विवेकमञ्जरी**, मुनिसुन्दरसूरिकृत **उपदेशरत्नाकर** तथा शुभवर्धनगणिकृत **वर्धमानदेशना** आदि प्रमुख ग्रन्थ उपदेश-प्रधान कथाओं के अनुपम संग्रह हैं।

'उपदेशपद' के रचयिता आचार्य हरिभद्रसूरि बहुमुखी प्रतिभा के धनी थे। इन्होंने साहित्य की विविध विधाओं में श्रेष्ठ रचनाओं का प्रणयन किया।

योग, दर्शन, अध्यात्म, आगम, सिद्धान्त, आचार, कथा और काव्य आदि

---

*. उपाचार्य एवं अध्यक्ष : जैनदर्शन विभाग, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी-२२१००२

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

विविध विधाओं में साहित्य का प्रणयन करके इन्होंने प्राकृत एवं संस्कृत भाषा के साहित्य के विकास में महनीय योगदान किया है। ये जन्मना प्रतिभासम्पन्न विद्वान् ब्राह्मण और चित्तौड़ के राजा जितारि के राजपुरोहित थे। बाद में प्रसङ्गवश जैन साध्वी याकिनी महत्तरा के उपदेश से जैनधर्म में दीक्षित हुए। इनके दीक्षागुरु जिनदत्त थे। याकिनी महत्तरा को इन्होंने अपनी धर्ममाता माना और अपने को याकिनीसूनु कहा।[१]

दीक्षा के बाद अपनी विद्वत्ता तथा विशुद्ध साधु आचार का पालन करने के कारण ये अपने आचार्य के पट्टधर आचार्य बने। इनका जीवन राजपूताना और गुजरात में विशेषरूप से व्यतीत हुआ। इनके द्वारा विरचित अधिकांश ग्रन्थों के अन्त में 'विरह' शब्द उपलब्ध होता है।[२]

आचार्य हरिभद्र को १४४४ प्रकरणों का रचयिता माना जाता है। राजशेखरसूरि ने **प्रबन्धकोश** में इनको १४४० प्रकरणों का रचयिता बतलाया है, किन्तु इनमें से कुछ ही ग्रन्थ उपलब्ध हैं। इनकी उपलब्ध कृतियों का विवरण इस प्रकार है —

१. मूल ग्रन्थ

१. धर्मसंग्रहणी, २. पंचाशकप्रकरण, ३. पंचवस्तुकप्रकरण, ४.धर्मबिन्दु प्रकरण, ५. अष्टकप्रकरण, ६. षोडशकप्रकरण, ७. सम्बोधप्रकरण, ८.उपदेशपद, ९. षडदर्शनसमुच्चय, १०. अनेकान्तजयपताका, ११.अनेकान्तवाद प्रवेश, १२. लोकतत्त्वनिर्णय, १३. सम्बोधसप्ततिप्रकरण, १४. समराइच्चकहा, १५. योगविंशिका, १६. योगदृष्टिसमुच्चय, १७. योगबिन्दु।

२. टीका ग्रन्थ

१. नन्दीसूत्र, २. पाक्षिकसूत्र, ३. प्रज्ञापनासूत्र, ४. आवश्यकसूत्र, ५. दशवैकालिक, ६. पंचसूत्र, ७. अनुयोगद्वार, ८. ललितविस्तरा, ९. तत्त्वार्थ वृत्ति।

कथा साहित्य के अन्तर्गत आचार्य हरिभद्र ने एक ओर "**समराइच्चकहा**" जैसा बड़ा धर्मकथा ग्रन्थ रचा, वहीं व्यंग्यप्रधान धूर्ताख्यान जैसे कथा ग्रन्थ की भी रचना की। इतना ही नहीं इन्होंने जैनागम ग्रन्थों की टीकाओं में से **दशवैकालिक टीका** में लगभग तीस तथा **उपदेशपद** नामक स्वतन्त्र ग्रन्थ में लगभग सत्तर प्राकृत कथायें दी हैं। वस्तुतः आगमों का टीका साहित्य कथाओं तथा दृष्टान्तों का अक्षय भण्डार है। ये टीकायें संस्कृत में होने पर भी इनका कथाभाग प्राकृत में ही उपलब्ध है।

'उपदेशपद' जैसे महान् ग्रन्थ के माध्यम से आचार्य हरिभद्रसूरि ने प्राकृत कथा साहित्य की श्रीवृद्धि में योगदान दिया है। **'उपदेशपद'**[३] धर्मकथा अनुयोग के अन्तर्गत प्राकृत आर्या छन्द की १०४० गाथाओं में रचित एक अति महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

टीका ग्रन्थ

उपदेशपद एक ऐसा लोकप्रिय एवं शिक्षाप्रद कथा ग्रन्थ है जिससे आकृष्ट हो अनेक आचार्यों ने इस पर टीकाओं की रचना की है।

१. सुखसम्बोधिनी टीका

उपदेशपद पर सबसे अधिक लोकप्रिय टीका तार्किकशिरोमणि आचार्य मुनिचन्द्रसूरि द्वारा रचित सुखसम्बोधिनी टीका है।[४] यह बृहद्काय टीका १४५०० (साढ़े चौदह हजार) श्लोक प्रमाण है।[५] जैन महाराष्ट्री प्राकृत एवं संस्कृत भाषा में पद्य तथा गद्य रूप में रची गयी यह टीका अनेक दृष्टान्तों, आख्यानों, सुभाषितों एवं सूक्तियों से भरपूर है। इसमें अनेक सुभाषित अपभ्रंश भाषा में भी हैं। इस टीका की रचना विक्रम संवत् ११७४ में 'अणहिल्लपाटन में हुई। टीकाकार ने **उपदेशपद** में सांकेतिक तथा पूर्णक़थाओं को प्राकृत भाषा में तथा कहीं-कहीं प्राकृत शब्दों का संस्कृत अर्थ रूप में सन्दर्भ जोड़कर टीका का पर्याप्त विस्तार किया है।

मुनिचन्द्रसूरि यशोभद्रसूरि के शिष्य तथा वादिदेवसूरि (**स्याद्वादरत्नाकर** के कर्त्ता) एवम् अजितदेवसूरि के गुरु थे। आनन्दसूरि तथा चन्द्रप्रभसूरि इनके गुरु भाई थे। मुनिचन्द्रसूरि उच्चकोटि के विद्वान् थे। **उपदेशपद** पर **सुखसम्बोधिनी टीका** के अतिरिक्त इन्होंने अनेक मौलिक एवं टीका ग्रन्थों की रचना की है। छोटे-बड़े कुल मिलाकर इन्होंने ३१ ग्रन्थ लिखे।[६] मौलिक ग्रन्थों में प्रमुख हैं — **अंगुलसप्तति, वनस्पतिसप्तति, आवश्यकसप्तति, गाथाकोश, उपदेशामृतकुलक, हितोपदेश कुलक, सम्यक्त्वोत्पादविधि, तीर्थमालास्तव** आदि प्रमुख हैं। टीका ग्रन्थों में प्रमुख हैं — **ललितविस्तरापञ्जिका, अनेकान्तजयपताका टिप्पनकम्, धर्मबिन्दुविवृत्ति, योगबिन्दुविवृत्ति, कर्मप्रकृति विशेषवृत्ति, सार्धशतकचूर्णि** एवं **उपदेशपद-सुखसम्बोधिनी वृत्ति। उपदेशपद** पर इस वृत्ति के प्रणयन में रचनाकार को उनके शिष्य रामचन्द्रगणि ने भी सहायता प्रदान की।[७]

२. मुनिचन्द्रसूरि की उपर्युक्त टीका के प्रारम्भिक भाग से ज्ञात होता है कि **उपदेशपद** पर सर्वप्रथम पूर्वाचार्य द्वारा रचित कोई गहन टीका थी, किन्तु काल के प्रभाव से अल्पबुद्धि वाले उसे स्पष्ट समझने में समर्थ नहीं थे अत: **सुखसम्बोधिनी** नामक इस सरल वृत्ति को बनाने का प्रयत्न किया गया।[८]

३. वर्धमानसूरि ने वि०सं० १०५५ में **उपदेशपद** पर एक टीका रची है। इसकी प्रशस्ति पार्श्विलगणी ने रची है। इस समग्र टीका की प्रथमादर्श प्रति आर्यदेव ने तैयार की थी। 'वन्दे देवनरेन्द्र' - से शुरू होने वाली इस टीका का परिमाण ६४१३ श्लोक है।[९]

४. **'उपदेशपद'** पर एक अज्ञातकर्तृक टीका भी है।[१०]

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

हरिभद्रसूरि ने 'उपदेशपद' ग्रन्थ का प्रारम्भ मङ्गलाचरणपूर्वक करते हुए भगवान् महावीर को नमन किया है तथा उनके उपदेश के अनुसार मन्दमति लोगों के प्रबोधन हेतु कुछ उपदेश पदों को कहने की प्रतिज्ञा की है—

नमिऊण महाभागं तिलोगनाहं जिणं महावीरं।
लोयालोयमियंकं सिद्धं सिद्धोवदेसत्थं।। १ ।।
वोच्छं उवएसपए कइइ अहं तदुवदेसओ सुहुमे।
भावत्थसारजुत्ते मंदमइविबोहणट्ठाए।। २ ।।

इसी तरह ग्रन्थ के अन्त में कहते हुए ग्रन्थ का स्वकर्तृत्व सूचित किया है —

लेसुवएसेणेते उवएसपया इहं समक्खाया।
समयादुद्धरिऊणं मंदमतिविबोहणट्ठाए।।१०३९।।
जाइणिमयहरियाए रइता एते उ धम्मपुत्तेणं।
हरिभद्दायरिएणं भवविरहं इच्छमाणेणं।।१०४०।।

उपदेशपदवृत्ति के रचयिता मुनिचन्द्रसूरि ने भी मङ्गलाचरणपूर्वक 'उपदेश पदों' का दो प्रकार से अर्थ करते हुए कहा है कि 'सकल पुरुषार्थों में प्रधान मोक्ष ही है अतः मोक्ष पुरुषार्थ विषयक उपदेशों के पद अर्थात् मनुष्यजन्मदुर्लभत्व आदि स्थानभूत शिक्षाविशेष पदों का इसमें प्रतिपादन किया गया है। द्वितीय अर्थ के अनुसार 'उपदेश' और 'पद' दोनों में कर्मधारय समास करने पर उपदेशों को ही पद माना गया है। तदनुसार मनुष्य-जन्म की दुर्लभता आदि अनेक कल्याणजनक विषयों की इस ग्रन्थ में चर्चा की गई है, जो उपदेशात्मक वचन रूप हैं।[११]

हरिभद्रसूरि ने मङ्गलाचरण आदि के बाद सभी उपदेश पदों में प्रधान उपदेश पद का उल्लेख करते हुए कहा है —

लद्धूण माणुसत्तं कहंचि अइदुल्लहं भवसमुद्दे।
सम्मं निउंजियव्वं कुसलेहि सयावि धम्मम्मि।।३।।

अर्थात् इस संसार समुद्र में जिस किसी प्रकार से अति दुर्लभ मनुष्य जन्म पाकर आत्महितैषी जनों को सद् सम्यक् धर्म में कुशलतापूर्वक मन, वचन और शरीर को लगाकर उसका सदुपयोग करना चाहिए।

मनुष्य जन्म की दुर्लभता के सम्बन्ध में निम्नलिखित दस दृष्टान्त दिये हैं — १. चोल्लक, २. पाशक, ३. धान्य, ४. द्यूत, ५. रत्न, ६. स्वप्न, ७. चक्र,

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

८. चर्म, ९. युग (यूप) और १०. परमाणु।[१२]

इन दस दृष्टान्तों द्वारा मनुष्य जन्म की दुर्लभता को अलग-अलग कथानकों द्वारा प्रस्तुत किया है जिसका विवेचन गाथा सं० ४ से १९ तक की गाथाओं में किया गया हैं तथा टीकाकार मुनिचन्द्र ने प्राकृत कथाओं के रूप में इन दृष्टान्तों को पद्य रूप में विस्तृत किया है।

इन दस दृष्टान्तों में 'चोल्लक' नामक प्रथम दृष्टान्त को टीकाकार ने ५०५ गाथाओं में प्रस्तुत करते हुए कहा है — जिस प्रकार ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती के यहां एक बार भोजन करके पुन: भोजन करना दुर्लभ हुआ, उसी प्रकार एक बार मनुष्य जन्म पाकर उसे पुन: पाना बड़ा ही दुर्लभ है।[१३] यहां 'चोल्लक' शब्द देशी है जिसका अर्थ है — 'भोजन'।

२. पाशक दृष्टान्त[१४] में कहा है कि — नन्दवंश का उन्मूलन कर चन्द्रगुप्त को पाटलिपुत्र का राज्य किस प्रकार प्राप्त हो, यह चाणक्य सोचने लगा। उसने अर्थसंग्रह के लिए एक यन्त्रपाश बनाया और किसी देव की कृपा से उसके पाशे प्राप्त किये। उसने दस पाशे को नगर के तिमुहानी और चौमुहानी आदि प्रमुख रास्तों पर रखवा दिया और उस द्युतपाश के पास दीनार भरी एक थाली भी रखवा कर कहा कि जो कोई जुए में जीत जायेगा, उसे यह दीनार भरी थाली दी जायेगी और जो हार जायेगा वह एक दीनार देगा। इस देवनिर्मित पाशे द्वारा किसी का भी जीतना सम्भव नहीं था, सभी हारते जाते और एक-एक दीनार देते जाते। इस प्रकार चाणक्य ने बहुत-सा धन अर्जित कर लिया।

३. धान्य का दृष्टान्त प्रस्तुत करते हुए कहा है कि यदि समस्त भरतक्षेत्र के धान्यों को मिलाकर उनमें एक प्रस्थ सरसों मिला दी जाए और किसी कमजोर एवं रोगी वृद्धा स्त्री से उस समस्त धान्य में से एक प्रस्थ सरसों अलग करने को कहा जाये। जैसे — समस्त धान्य में से थोड़ी सी सरसों को पृथक् करना अत्यन्त दुर्लभ है उसी प्रकार अनेक योनियों में भटक रहे जीव को मनुष्यत्व की प्राप्ति दुर्लभ है।[१५]

४. रत्न का दृष्टान्त प्रस्तुत करते हुए कहा है कि जैसे — समुद्र में किसी जहाज के नष्ट हो जाने पर खोये हुए रत्न की प्राप्ति दुर्लभ है वैसे ही मनुष्य जन्म की प्राप्ति दुर्लभ है।[१६]

इसके बाद सूत्रदान के अन्तर्गत ९७ गाथाओं में नन्दसुन्दरी की कथा प्रस्तुत की है और विनेय सूत्रदान में गुरु के कर्त्तव्यों का उल्लेख करते हुए कहा है कि — 'गुरु को सूत्र का दान योग्य पात्रों को विधिपूर्वक ही करना चाहिए। क्योंकि सिद्धाचार्यों द्वारा सूत्रानुसार सूत्रदान करना निश्चय ही योग्य कार्य है। आसन्न भव्य जीवों की पहचान

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भी सूत्रों के अनुसार होती है। अत: द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के अनुसार उचित प्रवृत्ति जिनेन्द्रदेव के शासन में सर्वत्र ही गौरव (बहुमान) प्राप्त कराती है तथा इसके विपरीत आचरण से स्व-पर का विनाश और आज्ञाकोप आदि दोषों का सेवन होता है अत: अति निपुणबुद्धि से सम्यक् प्रवृत्ति करनी चाहिए।"[१७]

बुद्धि के भेद

आचार्य हरिभद्र ने **उपदेशपद** में बुद्धि के चार भेद बतलाये हैं[१८] — १. औत्पत्तिकी, २. वैनयिकी, ३. कर्मजा तथा ४. पारिणामिकी।

१. औत्पत्तिकी बुद्धि

इस बुद्धि की उत्पत्ति में क्षमोपशम कारण होता है।

२. वैनयिकी बुद्धि

विनय अर्थात् गुरु शुश्रूषा आदि ही प्रधान कारण जिसमें होता है वह वैनयिकी बुद्धि है।

३. कर्मजा बुद्धि

कर्म रूप नित्य व्यापार से जो बुद्धि उत्पन्न होती है वह कर्मजा बुद्धि है।

४. पारिणामिकी बुद्धि

सुदीर्घकाल तक पूर्वापर तत्त्व-अवलोकन आदि से उत्पन्न आत्मधर्म जिसमें प्रधान कारण होता है उसे पारिणामिकी बुद्धि कहते हैं।

— बुद्धि के उपर्युक्त चार भेदों को अनेक पदों द्वारा अनेक दृष्टान्तों के माध्यम से समझाया है।

प्रथम औत्पत्तिकी बुद्धि के विषय में सत्रह उदाहरण (पद) प्रस्तुत किये हैं — १. भरतशिला, २. पणित, ३. वृक्ष, ४. मुद्रारत्न, ५. पट, ६. सरड, ७. काक, ८. उच्चार, ९. गज (गोल खम्भे), १०. भाण्ड (घयण), ११. गोल, १२. स्तम्भ, १३. क्षुल्लक, १४. मार्ग, १५. स्त्री, १६. द्रौपती तथा १७. पुत्र।[१९]

उपर्युक्त दृष्टान्तों में से रोहक कुमार के ये तेरह दृष्टान्त नन्दिसूत्र में बतलाये हैं[२०] — भरहसिल, मिण्ट, कुक्कुड, तिल, बालुण, हत्थि, अगड, वणसण्डे, पासय, अइआ, पत्ते, खाडहिला तथा पंचपियरो। इस उल्लेख से यह स्पष्ट है कि इन सभी आख्यानों का स्रोत नन्दिसूत्र है। भाव तथा भाषा की दृष्टि से यह भी ज्ञात होता है कि वैनयिकी तथा पारिणामिकी बुद्धि के लक्षण एवम् उदाहरण भी नन्दिसूत्र से ग्रहण किये गये हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भरतशिला नामक पद में रोहक कुमार का उदाहरण दिया है कि उज्जैन के राजा जितशत्रु प्रत्युत्पन्नमति रोहक की अनेक प्रकार से बुद्धि की परीक्षा लेते हैं और अन्त में उसे अपना प्रधानमन्त्री बना लेते हैं।[२१] इस कथा में रोहक की बुद्धि का चमत्कार विभिन्न रूपों में वर्णित है।

'स्त्री-व्यन्तरी' के विषय में 'कारणिक'— नामक कथा में कहा है कि एक युवा पुरुष गाड़ी पर अपनी पत्नी को लेकर कहीं जा रहा था। रास्ते में पत्नी को प्यास लगी अत: पानी पीने के लिए गाड़ी से उतरकर वह गयी। इतने में एक व्यन्तरी ने उस पुरुष को देखा और उस पर मुग्ध हो गयी। उस व्यन्तरी ने उस युवा की पत्नी का रूप बनाया और गाड़ी में आकर बैठ गयी। युवक ने उसे अपनी पत्नी समझा और गाड़ी आगे बढ़ा दी। पत्नी पानी पीकर लौटी और देखा कि गाड़ी तो आगे बढ़ गई है तो वह रोने लगी। उसने चिल्लाकर अनेक प्रकार से अपने पति को गाड़ी रोकने के लिए आवाज लगायी। युवक ने गाड़ी रोकी और इन दोनों स्त्रियों की समान आकृति देखकर उसे महान् आश्चर्य हुआ।[२२]

औत्पत्तिकी बुद्धि के अन्तर्गत पहेलियों और प्रश्नोत्तरों के रूप में विविध प्रकार के मनोरंजक आख्यान प्रस्तुत किये गये हैं, जो भारतीय कथा-साहित्य की दृष्टि से बड़े ही महत्त्वपूर्ण हैं।

इसके अन्तर्गत कुछ मनोरंजक आख्यान इस प्रकार हैं — किसी रक्तपट (बौद्ध भिक्षु) ने एक क्षुल्लक से पूछा — 'इस विन्नातट (वेन्यातट) नगर में कितने कौवें हैं? क्षुल्लक ने उत्तर दिया — साठ हजार कौवे हैं। तब भिक्षु ने पुन: प्रश्न किया — 'यदि साठ हजार से कम या ज्यादा हुए तब?' क्षुल्लक ने तुरन्त उत्तर दिया — यदि कम हुए तब यह समझना चाहिए कि कुछ कौवे विदेश चले गये और अधिक हैं तब समझना चाहिए कि बाहर से कुछ और कौवे अतिथि के रूप में आ गये हैं।' — ऐसा उत्तर सुनकर शाक्यपुत्र भिक्षु निरुत्तर होकर रह गया।[२३]

इसी प्रकार एक बार किसी शाक्य भिक्षु ने एक गिरगिट को अपना सिर धुनते हुए देखा। एक क्षुल्लक (लघुश्वेताम्बर साधु)[२४] से वह उपहासपूर्वक बोला — तुम तो सर्वज्ञ पुत्र हो, अत: यह बतलाओं कि यह गिरगिट अपना सिर क्यों धुन रहा है? उस क्षुल्लक ने तुरन्त उत्तर दिया — 'शाक्यव्रती! तुम्हें देखकर चिन्ता से आकुल हो यह ऊपर-नीचे देख रहा है। तुम्हारी दाढ़ी-मूंछ देखकर इसे लगता है कि तुम भिक्षु हो, लेकिन जब वह तुम्हारे लम्बे चीवर को देखता है तो तुम इसे भिक्षुणी नजर आते हो। यही कारण है कि यह गिरगिट अपना सिर धुन रहा है। यह सुनकर बेचारा भिक्षु निरुत्तर रह गया।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

उपदेशपद में इसी तरह के और भी मनोरंजक आख्यान दिये गये हैं। 'कच्छप का लक्ष्य'[२५] तथा 'युवकों से प्रेम'[२६] नामक कथायें व्यंग्य प्रधान हैं।

विविध आख्यानों के माध्यम से हरिभद्रसूरि ने औत्पत्तिकी आदि चारों प्रकार की बुद्धि की विशेषतायें प्रकट की हैं। बिना देखे, बिना सुने और बिना जाने विषयों को उसी क्षण में अबाधित रूप से ग्रहण करना तथा तत्सम्बन्धी चमत्कारों को कथाओं द्वारा दिखलाना ही इन कथाओं का उद्देश्य है।

संख्या तथा मार्मिकता की दृष्टि से हरिभद्र की लघु कथाओं में बुद्धि चमत्कार प्रधान कथाओं का स्थान महत्त्वपूर्ण है। इस श्रेणी की कथाओं का शिल्पविधान नाटकीय तत्त्वों से सम्पृक्त रहता है। इतिवृत्त, चरित्र आदि के रहने पर भी प्रधानतः बुद्धि चमत्कार ही व्यक्त होता है।[२७]

औत्पत्तिकी बुद्धि 'गोल' पद के अन्तर्गत कहा है कि किसी बालक की नाक में खेलते-खेलते लाख की एक गोली चली गई। जब बालक के पिता को पता लगा तो उसने एक सुनार को बुलाया। सुनार ने सावधानीपूर्वक लोहे की गरम सलाई नाक में डालकर गोली तोड़ दी फिर धीरे से सलाई निकाली और पानी में डालकर ठण्डी कर दी। पुनः उस ठण्डी सलाई से नाक के अन्दर की गोली बाहर निकाल दी और वह बालक स्वस्थ हो गया।[२८]

वैनयिकी बुद्धि के अन्तर्गत निमित्त विद्या, अर्थशास्त्र, चित्रकला, लेखन, गणित, अश्व, कूप, गर्दभ, अगद (विष), परीक्षा, गणिका, तथा अंक एवं लिपि ज्ञान से सम्बन्धित अनेक महत्त्वपूर्ण बातें कथानकों सहित दी गई हैं।[२९] **उपदेशपदवृत्ति** में अट्ठारह प्रकार की लिपियों का उल्लेख विशेष महत्त्वपूर्ण है। इन लिपियों के नाम इस प्रकार हैं — हंसलिपि, भूतलिपि, यक्षी, राक्षसी, उड्डी, यवनी, फुडुक्की, कीडी, दविडी, सिंधविया, मालविणी, नटी, नागरी, लाटलिपि, पारसी, अनिमित्ता, चाणक्यी और मूलदेवी।[३०]

खेल-खेल में लिपि विद्या सिखाने के विषय में एक आख्यान है कि किसी राजा ने अपने पुत्र को लिपि सिखाने के लिए किसी उपाध्याय के साथ रखा; किन्तु अनुशासनहीनतावश वह लिपि सीखने में उत्साहित नहीं था। अपितु वह बालक खेल में ही मस्त रहता। उपाध्याय भी सिखाने में लापरवाही करते। किन्तु बाद में राजा के भय से उपाध्याय ने खडिया मिट्टी तथा उसकी गोलियों के माध्यम से खेल-खेल में भूमि, पत्थर आदि पर लिख-लिख कर और खड़िया मिट्टी से अक्षरों के आकार बनाकर उसे सिखाया। इससे वह शीघ्र ही लिपि विद्या सीख गया।[३१]

'शत्रुता' शीर्षक कथा में वररुचि और शकटाल इन दोनों बुद्धिजीवियों की शत्रुता का अंकन किया गया है। वररुचि ने अपनी चालाकी द्वारा शकटाल को मरवा दिया।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

शकटाल के पुत्र क्षेपक ने वररुचि से बदला चुकाया। कथा में आद्यन्त दांव-पेंच का व्यापार निहित है।[३२]

कर्मजा बुद्धि के अन्तर्गत भी अनेक उदाहरण प्रस्तुत किये हैं। इसी में तन्तुवाय, रथकार, कान्दविक, कुम्भकार, चित्रकार, मृतपिण्ड, चित्रादि ज्ञान आदि सम्बन्धी विवरण हैं।[३३]

पारिणामिकी बुद्धि के आख्यानों में अभयकुमार, काष्ठक श्रेष्ठि, श्रेणिक राजसुत नन्दिषेण, चिलातीपुत्र, चाणक्य-चन्द्रगुप्त, स्थूलिभद्र आचार्य, वज्रस्वामी, गौतमस्वामी, चण्डकौशिक, नारद-पर्वत आदि के आख्यान तथा नारी चरित्रों में रतिसुन्दरी (गाथा ६९७), बुद्धिसुन्दरी (गाथा ७०३), गुणसुन्दरी (गाथा ७१३), ऋद्धिसुन्दरी (गाथा ७०८), नृपपत्नी (गाथा ८९१) तथा देवदत्ता आदि के आख्यान ऐतिहासिक दृष्टि से बहुत ही महत्त्वपूर्ण हैं।[३४]

इसी के अन्तर्गत 'नन्द की उलझन' कथा का आरम्भ विलास से और अन्त त्याग से होता है। आदि से अन्त तक कार्य-व्यापारों का तनाव है। नन्द साधु हो जाने पर भी अपनी पत्नी सुन्दरी का ही ध्यान किया करता है। रोमांस उसके जीवन में घुला-मिला है। नन्द का भाई अपने कई चमत्कारपूर्ण कार्यों के द्वारा नन्द को सुन्दरी से विरक्त करता है।[३५]

यहाँ आर्य महागिरि तथा आर्य सुहस्ती के आख्यान भी दिये गये हैं।[३६] गजाग्रपुर तीर्थ में आर्य महागिरि ने पादोपगमन धारणकर मुक्ति प्राप्त की थी। गोविन्द वाचक के दृष्टान्त में कहा है कि गोविन्दवाचक बौद्ध धर्मानुयायी महावादी थे और श्रीगुप्तसूरि से शास्त्रार्थ में पराजित होने पर ये जैनधर्म में दीक्षित हुए।[३७] धर्मबीज की चर्चा करते हुए कहा गया है कि जैन शासन में श्रद्धा प्रधान दया-दान आदि अनवद्य भाव ही धर्मबीज है।[३८] स्थविरकल्प में करणीय कार्य,[३९] वैयावृत्य का स्वरूप, सम्यग्दर्शन की निर्मलता आदि विषयों का अच्छा प्रतिपादन है।[४०]

आगे आध्यात्म की प्रधानता के विषय में कहा है कि यही मूलबद्ध अनुष्ठान है। इसके विपरीत सब कुछ शरीर में लगे हुए मैल की तरह असार है। जैनेतर शास्त्रों में भी आध्यात्म की प्रधानता वर्णित है।[४१]

चैत्यद्रव्य के उपयोग की विविध प्रकार से निन्दा करते हुए इसके उपयोग से सम्बन्धित संकाश श्रावक का आख्यान दिया है जो कि अनेक जन्म-जन्मान्तरों तक दुःख भोगता है। **उपदेशपद** में देवद्रव्य का स्वरूप तथा उसके रक्षण के फल का अच्छा प्रतिपादन है।[४२] सम्यग्ज्ञान का स्वरूप और फल, अभिग्रह, कर्मबन्ध के हेतु, गुणस्थान, अणुव्रत, महाव्रत, पञ्चसमिति, त्रिगुप्ति, गुरुकुलवास से ज्ञानादि गुणों की

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्राप्ति, स्वाध्याय, यत्नाचार, उत्सर्ग-अपवाद लक्षण से सभी नयों द्वारा अभिमत तात्त्विक स्वरूप, दुषमाकाल में चरित्र की स्थिति आदि विषयों का प्रतिपादन विभिन्न आख्यानों द्वारा विस्तृत रूप में किया गया है।

धर्माचरण का निरतिचार पालन करने से श्रेय पद की प्राप्ति होती है। इस सम्बन्ध में आचार्य हरिभद्र ने शंख कलावती का बड़ा आख्यान दिया है। टीकाकार ने इस आख्यान का ४५१ आर्या छन्दों में विस्तार किया है।[४३] इसी प्रसंग में शक्कर और आटे से भरे हुए बर्तन के उलट जाने, खांड मिश्रित सत्तू और घी की कुण्डी उलट जाने एवम् उफान से निकले हुए दूध के हाथ पर गिर जाने से किसी सज्जन पुरुष के कुटुम्ब की दयनीय स्थिति का बड़ा ही सजीव चित्रण वृत्तिकार ने किया है।

धर्म, सुख, पाण्डित्य आदि का प्रश्नोत्तर रूप में स्वरूप प्रतिपादित करते हुए कहा है कि — धर्म क्या है? उत्तर— जीव दया। सुख क्या है? — उत्तर — आरोग्य। स्नेह क्या है? उत्तर — सद्भाव। पाण्डित्य क्या है? उत्तर — हिताहित का विवेक। विषम क्या है? उत्तर — कार्य की गति। प्राप्त करने योग्य क्या है? उत्तर — मनुष्य द्वारा गुण ग्रहण। सुख से प्राप्त करने योग्य क्या है? उत्तर — सज्जन पुरुष। तथा कठिनता से प्राप्त करने योग्य क्या है? उत्तर — दुर्जन पुरुष।[४४]

आगे अनेक विषयों को सोदाहरण प्रस्तुत करते हुए धर्मरत्न प्राप्ति की योग्यता को समझाया है।[४५] विषयाभ्यास में शुक और भावाभ्यास में नरसुन्दर[४६] की तथा शुद्धयोग में दुर्गत नारी और शुद्धानुष्ठान में रत्नशिख की कथा दी है।[४७]

ग्रन्थ का उपसंहार करते हुए आचार्य हरिभद्र ने कहा है कि शाश्वत सुख चाहने वाले पुरुष को कल्याणमित्र-योगादि रूप विशुद्ध योगों में धर्म सिद्ध करने का सम्यक् प्रयास करना चाहिए।[४८]

धर्मकथाप्रधान इस **उपदेशपद** की लघुकथाओं का विभाजन निम्नलिखित वर्गों में किया जा सकता है[४९]—

१. कार्य एवं घटनाप्रधान कथाएं

१. इन्द्रदत्त (गाथा १२), २. धूर्तराज (गाथा ८६), ३. शत्रुता (गाथा ११७)।

२. चरित्रप्रधान कथाएं

१. मूलदेव (गाथा ११), २. विनय (गाथा २०), ३. शीलवती (गाथा ३०-३४, ४. रामकथा (गाथा ११४), ५. वज्रस्वामी (गाथा १४६), ६. गौतमस्वामी (गाथा १४२), ७. आर्य महागिरि (गाथा २०३-२११), ८. आर्य सुहस्ती (गाथा २०३-२११), ९. विचित्र कर्मोदय (गाथा २०३-२११), १०. भीमकुमार (गाथा

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

२४५-२५०), ११. रुद्र (गाथा ३९५-४०२), १२. श्रावकपुत्र (गाथा ५०६-५१७), १३. पाखण्डी (गाथा २५८), १४. कुरुचन्द्र (गाथा ९५२-९६९), १५. शंखनृपति (गाथा ७३६-७६२), १६. ऋद्धिसुन्दरी (गाथा ७०८), १७. रति-सुन्दरी (गाथा ७०३), १८. गुणसुन्दरी (गाथा ७१३), १९. नृप पत्नी (गाथा ८६१-८६८)।

३. भावना और वृत्तिप्रधान कथायें

१. गालव (गाथा ३७८-३८२), २. मेघकुमार (गाथा २६४-३७२), ३. तोते की पूजा (गाथा ९७५-९९६), ४. वृद्धा नारी (गाथा १०२०-१०३०)।

४. व्यंग्य प्रधान कथायें

१. कच्छप का लक्ष्य (गाथा १३), २. युवकों से प्रेम (गाथा ११३)।

५. बुद्धि चमत्कार प्रधान कथायें

१. चतुर रोहक (गाथा ५२-७४), २. पथिक के फल (गाथा ८१), ३. अभयकुमार (गाथा ८२), ४. चतुर वैद्य (गाथा ८०), ५. हाथी की तौल (गाथा ८७), ६. मन्त्री की नियुक्ति (गाथा ९०), ७. व्यन्तरी (९४), ८. कल्पक की चतुराई (गाथा १०८), ९. मृगावती कौशल (गाथा १०८)।

६. प्रतीक प्रधान कथायें

१. धन्य की पुत्रवधुयें (गाथा १७२-१७९)।

७. मनोरंजन प्रधान कथायें

१. जामाता परीक्षा (गाथा १४३), २. राजा का न्याय (गाथा १२०), ३. विषयी सुख (पृ० ३९८)।

८. नीति या उपदेशप्रधान कथायें

१. सवलित रत्न (गाथा १०), २. सोमा (गाथा ५५०-५९७), ३. वरदत्त (गाथा ६०५-६६३), ४. गोवर (गाथा ५५०-५९७), ५. सत्संगति (गाथा ६०८-६६३), ६. कलि (गाथा ८६७), ७. कुन्तलदेवी (गाथा ४९७), ८. सूरतेज (गाथा १०१३-१०१७)।

९. प्रभावप्रधान कथायें

१. ब्रह्मदत्त (गाथा ६), २. पुण्यकृत्य की प्राप्ति (गाथा ८), ३. प्रभाकर-चित्रकार (गाथा ३६२-३६६), ४. कामासक्ति (गाथा १४७), ५. माषतुष (गाथा १९३)।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

हम देखते हैं कि **उपदेशपद** एक अनुपम ग्रन्थ है जिसमें कथानकों के माध्यम से सदाचार की प्रेरणा दी गई है। वस्तुत: कथाएं जीवन के विभिन्न पहलुओं को अपने में समेटे हुए सहजता के साथ मनोरंजन करती हुई अपूर्व प्रेरणायें प्रदान करती हैं। सैकड़ों प्रकार के सिद्धान्त जहां कार्यकारी नहीं होते वहां प्रभावपूर्ण कथा या दृष्टान्त व्यक्ति को मार्ग पर लाने के लिए हृदय परिवर्तन में अधिक सहकारी बनती है, क्योंकि ऐसी कथाओं में कोई न कोई गहरी संवेदना अवश्य रहती है।

डॉ० नेमिचन्द्र शास्त्री ने इन कथाओं के विषय में लिखा है कि हरिभद्र की कार्य और घटनाप्रधान कथाओं में घटनाओं के चमत्कार के साथ पात्रों के कार्यों की विशेषता, आकर्षण और तनाव आदि भी हैं। यों तो ये कथायें कथारस के उद्देश्य से नहीं लिखी गयी हैं। लेखक विषय का उदाहरण द्वारा स्पष्टीकरण करना चाहता है अथवा उपदेश को हृदयङ्गम कराने के लिए कोई उदाहरण उपस्थित करता है, तो भी कथातत्त्व का समीचीन सन्निवेश है।[५०] इन लघु कथाओं में जीवन-निर्माण, मनोरंजन, मानसिक क्षुधा की तृप्ति, जीवन और जागतिक सम्बन्धों के विश्लेषण एवं चिरन्तन और युग सत्यों के उद्घाटन की सामग्री प्रचुर रूप में वर्तमान है तथा सामान्य रूप से ये सभी कथायें, दृष्टान्त या उपदेश-कथायें ही हैं।[५१]

इस प्रकार **उपदेशपद** में व्यक्त हरिभद्रसूरि के चिन्तन के महत्त्व को देखते हुए उसके साङ्गोपाङ्ग एवं तुलनात्मक अध्ययन की आज के सन्दर्भ में बहुत आवश्यकता है ताकि उनके विराट व्यक्तित्व और चिन्तन का लाभ सर्वसाधारण को उपलब्ध हो सके।

सन्दर्भ-सूची

१. जाइणिमयहरियाए रइता एते उ धम्मपुत्तेणं।
हरिभद्दायरिएणं भवविरहं इच्छमाणेणं।। — **उपदेशपद,** १०४०.

२. (क) तम्हा करेह सम्मं जह विरहो होइ कम्माणं। **पंचाशक,** ९४०.
(ख) दुक्ख विरहाय भव्वा लभंतु जिणधम्मसंबोधिं। **धर्मसंग्रहणी,** १३९६.

३. **उपदेशपद (उवएसपय)** सन् १९२८ में श्री ऋषभदेव केशरीमल श्वेताम्बर संस्था, रतलाम से **पंचाशक, धर्मसंग्रहणी** आदि आठ ग्रन्थों के साथ प्रकाशित हुआ है।

४. **उपदेशपद महाग्रन्थ** नाम से दो भागों में श्री मन्मुक्तिकमल जैन मोहनमाला, बड़ोदरा से क्रमश: १९२३ एवं १९२५ में प्रकाशित।

५. ग्रन्थाग्र० १४५०० सूत्रसंयुक्तोपदेशपदवृत्तिश्लोकमानेन प्रत्यक्षरगणनया — **उपदेशपदवृत्ति** की प्रशस्ति का अन्तिम वाक्य, पृ० ४३४.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

६. **उपदेशपदवृत्ति** द्वितीयो भागः, आद्य वक्तव्य (भूमिका), पृ० ६-७.

७. साहाय्यमत्र परमं कृतं विनेयेन रामचन्द्रेण।
गणिना, लेखसंशोधनादिकं शेषशिष्यैश्च।।
उपदेशपदवृत्ति अन्तिम प्रशस्ति ८, पृ० ४३४.

८. पूर्वैर्यद्यपि कल्पितेह गहना वृत्तिः ...... यत्नोऽयमास्थीयते।
— **उपदेशपदवृत्ति** (प्रारम्भिक), ३.

९. **जैन साहित्य का बृहद् इतिहास,** भाग ४, पृ० १९५.

१०. वही, पृ० १९५.

११. **उपदेशपद,** गाथा १-२ की वृत्ति, पृ० २.

१२. अइदुल्लहं च एयं चोल्लगपमुहेहि अत्थ समयंमि।
भणियं दिट्ठंतेहिं अहमवि ते संपवक्खामि ।।४।।
चोल्लग पासग धण्णे-जुए रयणे य सुमिण चक्के य।
चम्म जुगे परमाणू- दस दिट्ठंता मणुयलंभे।।५।। — **उपदेशपद,** गाथा ४-५.

१३. **उपदेशपद,** गाथा ६.

१४. वही, गाथा ७, पृ० २१.

१५. धण्णेत्ति भरहधण्णे सिद्धत्थगपत्थखेव थेरीए।
अवगिंचण मेलणओ एमेव ठिओ मणुयलाभो।। **उपदेशपद,** गाथा ८.

१६. रयणेत्ति भिन्नपोयस्स तेसि नासो समुद्दमज्झंमि।
अण्णेसणंभि भणियं तल्लाहसमं खु मणुयत्तं ।। — **उपदेशपद,** गाथा १०.

१७. **उपदेशपद,** गाथा ३०-३६.

१८. उप्पत्तिय वेणइया कम्मय तह पारिणामिया चेव।
बुद्धि चउव्विहा खलु निद्दिट्ठा समयकेऊहिं।। — **उपदेशपद,** गाथा ३८.

१९. भरहसिल-पणिय-रुक्खे खड्डुग-पड-सरड-काय-उच्चारे।
गय-घयण-गोल-खंभे, खुड्डुग-मग्गि-त्थि-पइ-पुत्ते।।—**उपदेशपद,** गाथा ४०.

२०. **नन्दीसूत्र,** गाथा ७०-७२.

२१. **उपदेशपद,** गाथा, ५२-७९.

२२. इत्थी वंतरि सच्चित्थि तुल्ल तीयादि कहण ववहारे।
हत्थाविसए ठावण गह दीहागरिसणे णाणं।। — **उपदेशपद,** गाथा ९३.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

२३. कागे संखेवं चिय विण्णायड सट्ठि ऊण पवासादी।
अण्णे घरिणिपरिच्छा णिहि फुट्टे रायऽणुण्णाओ।। — **उपदेशपद,** गाथा ८५.

२४. **उपदेशपदवृत्ति,** ८४, पृ० ६१.

२५. **उपदेशपद,** गाथा १३, पृ० २१.

२६. वही, गाथा ११३, पृ० ८४.

२७. डॉ० नेमिचन्द्र शास्त्री, **हरिभद्र के प्राकृत कथा साहित्य का आलोचनात्मक परिशीलन,** पृ० १८२.

२८. गोलग जउमय णक्के पवेसणं दूरगमण दुक्खम्मि।
तत्तसलागा खोहो सीयलगाढत्ति कड्डणया।। — **उपदेशपद,** गाथा ८९.

२९. वही, गाथा १०७-१२०.

३०. हंसलिवी भूयलिवी जक्खी तरु रक्खसी य बोद्धव्वा।
उड्डी जवणि फुडुक्की कीडी दविडी य सिंधविया।।
मालविणी नडि नागरि लाडलिवी पारसी य बोद्धव्वा।
तह अनिमित्ता णेया चाणक्की मूलदेवी य।।
उपदेशपदवृत्ति, गाथा १०९/१-२, पृ० ८१.

३१. लेहे लिवीविहाणं वट्टाक्खेड्डेणमक्खरालिहणं।
पिट्ठिंम्मि लिहियवायणमक्खरबिंदाइ सुयणाणं।।— **उपदेशपद,** गाथा १०९.

३२. वही, गाथा ११७, पृ० ८६ (**हरिभद्र के प्राकृत कथा साहित्य,** पृ० १७७).

३३. वही, गाथा १२२-१२७.

३४. वही, गाथा १२८-१७०.

३५. वही, गाथा १३९, पृ० १०९ (**हरिभद्र के प्राकृत कथा साहित्य,** पृ० १७७).

३६. वही, गाथा २०२-२११.

३७. वही, गाथा २५८, पृ० १८०.

३८. वही, गाथा २२४, २३१-२३४.

३९. वही, गाथा २२३.

४०. वही, गाथा ३३५-३६०.

४१. अज्झप्पमूलबद्धं इत्तोऽणुट्ठाणमो सयं बिंति।
तुच्छमतुल्लमएणं अण्णेऽबज्झप्पसत्थण्णू।। — वही, गाथा ३६८.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

४२. वही, गाथा ४०३-४२०.

४३. वही, गाथा ७३६-७६८.

४४. को धम्मो? जीवदया, किं सोक्खमरोग्गया उ जीवस्स।
को णेहो? सब्भावो, किं पंडिच्चं? परिच्छेओ।।
किं विसमं? कज्जगती, किं लट्ठं? जं जणो गुणग्गाही।
किं सुहगेज्झं? सुयणो, किं दुग्गेज्झं खलो लोओ।।

— वही, गाथा ५९८-५९९.

४५. वही, गाथा ९११-९१९.

४६. वही, गाथा ९८८-९९४.

४७. वही, गाथा १०१८-१०३१.

४८. वही, गाथा १०३२-१०३३.

४९. नेमिचन्द्र शास्त्री, **प्राकृत भाषा और साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास**, पृ० २७६-२७९.

५०. **हरिभद्र के प्राकृत कथा साहित्य.....**, पृ० १७७.

५१. वही, पृ० १८६.

●

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पूज्यश्री जिनेन्द्र वर्णीजी महाराज की उन्यासीवीं जन्म-जयन्ती (१४ मई) एवं सत्रहवें समाधि-दिवस (२४ मई) पर विशेष लेख

श्री जिनेन्द्र वर्णीजी द्वारा प्रणीत 'पदार्थ विज्ञान' और उसकी विवेचन-शैली

*डॉ० कमलेशकुमार जैन**

आज से अठहत्तर वर्ष पूर्व १४ मई सन् १९२१ को जन्मे एवं २४ मई सन् १९८३ को मात्र बासठ वर्ष की उम्र में समाधि को प्राप्त पूज्य श्री जिनेन्द्र वर्णीजी महाराज का जीवन साधनामय रहा है। कृशकाय होते हुए भी उन्होंने अपना आधे से अधिक उत्तरार्द्ध का जीवन जैन एवं जैनेतर वाङ्मय के अध्ययन और तत्पश्चात् लेखन में बिताया।

जैनधर्म के प्रति अगाध श्रद्धालु एवं संस्कार सम्पन्न पिता श्री जयभगवानदास जी, एडवोकेट का निर्देशन तथा पानीपत के सुप्रद्धि विद्वान् पं० रूपचन्द्र जी गार्गीय की प्रेरणा भंद्रपरिणामी श्री जिनेन्द्र वर्णीजी के बहुमुखी व्यक्तित्व को सजाने-सँवारने में सहायक रही है।

पूज्य वर्णीजी ने स्वाध्याय, मनन और चिन्तन के पश्चात् जो कुछ भी लिखा, वह सब अद्वितीय है। क्योंकि उनके लेखन में बहुश्रुतता के साथ ही शोध एवं स्वानुभव का विशेष पुट रहा है। उनकी तपःपूत लेखनी से 'जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश'[1] जैसे ग्रन्थ का प्रणयन उनकी अद्भुत क्षमता का श्रेष्ठ निदर्शन है।

पूज्य वर्णीजी को जीवन धर्ममय रहा है, अत: उन्होंने धर्म की परिभाषा विस्तार से की है और उन्होंने स्वीकार किया है कि— जीवन का सार सुख एवं शान्ति है।

---

*. जैनदर्शन प्राध्यापक, संस्कृतविद्या धर्मविज्ञान संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी-५।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जिस प्रकार अग्नि के संयोग के कारण जल भले ही गरम हो गया हो, किन्तु उसका मूल स्वभाव शीतलता है, वैसे ही जीवन भले ही धन, कुटुम्ब आदि के संयोग को प्राप्त होकर वर्तमान में दुःखी या चिन्तित हो रहा है, किन्तु उसका अन्तरङ्ग प्रयत्न सुखी व शान्त होने का ही रहता है। जीवन का यह स्वतन्त्र प्रयत्न ही दर्शाता है कि उसका स्वभाव दुःख और चिन्ता नहीं, बल्कि सुख और शान्ति है, जीवन के इस स्वभाव का नाम ही धर्म है।[२]

जीवन के दो रूप हैं — बाह्य शरीर और अन्तरङ्ग मन। शरीर स्थूल और द्रष्टव्य है, अतः उसकी रक्षा के लिये उसके धर्म को अपनाते हैं, परन्तु मन का धर्म जो सुख और शान्ति है उसको हम नहीं जानते, इसलिये उसकी परवाह भी नहीं करते। शरीर की भाँति वह भी कुछ है, ऐसा जानकर उसके स्वास्थ्य के लिये भी कुछ करना धर्म है।[३]

योग्य कार्य करने का फल सुख और न करने योग्य कार्य के करने का फल दुःख होता है। इसे ही कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य का विवेक कहते हैं। सुख स्वभाव से इसका सम्बन्ध होने के कारण यह कर्त्तव्य का विवेक भी धर्म कहलाता है।[४]

धर्म के प्रकरण में तीन बातें जानना आवश्यक है — हमारा स्वभाव क्या है? हमारा कर्त्तव्य क्या है? और किस कर्म का क्या फल है? — ये तीनों ही जानने योग्य हैं। यही कारण है कि धर्म भी एक विज्ञान है।[५]

इन तीनों प्रश्नों का उत्तर देने के लिये पूज्य वर्णीजी ने तीन स्वतन्त्र ग्रन्थ लिखे हैं — 'पदार्थ विज्ञान', 'शान्ति पथ प्रदर्शन' और 'कर्म सिद्धान्त'। यहाँ 'पदार्थ विज्ञान'[६] ही विचारणीय बिन्दु है।

एक आध्यात्मिक सन्त योग की चर्चा करे, समाधि की चर्चा करे अथवा संसार के सम्पूर्ण पदार्थों की चर्चा करे तो वह तो युक्तियुक्त प्रतीत होता है, किन्तु पदार्थ विज्ञान जैसे नीरस ग्रन्थ की रचना के मूल में पूज्य वर्णीजी का क्या उद्देश्य हो सकता है, यह अवश्य ही विचारणीय है। अतः मैंने चिन्तन किया और मेरी दृष्टि आचार्य उमास्वामी द्वारा प्रस्तुत उन सूत्रों पर गई, जिसमें उन्होंने संसार-सागर से मुक्त होने के लिये किं-वा विषय-भोगों से दूर रहने के लिये एक नवीन दृष्टि दी है और इसी दृष्टि के आलोक में मैं इस निष्कर्ष पर पहुँचा हूँ कि — जैनाचार पद्धति को अपने जीवन में अपनाते हुए पूज्य वर्णी जी ने आचार्य उमास्वामी के द्वारा तत्त्वार्थसूत्र में हिंसादि पञ्च पापों से विरत होने के लिये व्रतों की जिन पाँच-पाँच भावनाओं का उल्लेख किया है उनको तो आत्मसात किया ही है, किन्तु उससे भी आगे आचार्य उमास्वामी ने जो निर्देश दिये हैं उनको भी अपने जीवन में उतारा है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

उमास्वामी ने हिंसादि को स्वर्ग और मोक्ष की प्रयोजक क्रियाओ का विनाश करने वाला तथा निन्दनीय और दुःख रूप माना है।[७] साथ ही प्राणी मात्र में मैत्री, गुणाधिकों में प्रमोद, कष्ट में पड़े जीवों के प्रति करुणाभाव और अविनयी जीवों के प्रति माध्यस्थ भावना बनाये रखने का उल्लेख किया है [८] जिसे पूज्य वर्णी जी ने अपने जीवन में अक्षरशः उतारा है।

संसार और भोगों से विरक्त होने के लिये पूज्य वर्णीजी ने शरीर की मलिनता और संसार के स्वरूप का चिन्तन किया और मन्थन स्वरूप जो नवनीत निकला उसका उन्होंने 'पदार्थ विज्ञान' नामक ग्रन्थ में संचय करने का महत्त्वपूर्ण कार्य किया है।

पूज्य वर्णीजी की पावन लेखनी से प्रसूत 'पदार्थ विज्ञान' नामक पुस्तक का सम्बन्ध— "स्कूली पाठ्यक्रमों में आने वाले पदार्थ विज्ञान (फिजिक्स) से नहीं है। फिजिक्स की सीमाओं का अतिक्रमण करके यह पुस्तक पदार्थ के उन पक्षों और रहस्यों का उद्घाटन करती है, जो वास्तव में पदार्थ को एक ओर फिजिक्स या आधुनिक भौतिक विज्ञान से जोड़ते हैं तो दूसरी ओर उसे व्यावहारिक दर्शन से, संचेतना को जागृत करने वाले धर्म से और गूढ़ रहस्यों के उस व्यापक संसार से जहाँ सब कुछ ज्ञान-ज्ञेय की सत्ता में एकात्मक होकर आध्यात्मिक बन जाता है।"[९]

पूज्य वर्णीजी ने **पदार्थ विज्ञान** नामक ग्रन्थ उपदेशात्मक शैली में लिखा है, जो कुल बारह अध्यायों एवं १४६ उपशीर्षकों में विभाजित हैं। इसमें सर्वप्रथम धर्म का स्वरूप बतलाया है, जिसकी प्रारम्भ में चर्चा की जा चुकी है। पुनः पदार्थ-सामान्य और पदार्थ-विशेष का विवेचन है। इसी क्रम में जीव पदार्थ का सामान्य और विशेष परिचय दिया गया है तथा जीव के धर्म और गुणों की चर्चा की है। तदनन्तर अजीव पदार्थ की सामान्य चर्चा करके उसके पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल इन पाँच भेदों का विस्तार से विवेचन किया है। अन्त में उपसंहार के माध्यम से षड्द्रव्यों का संक्षिप्त कथन है। इस प्रकार इस ग्रन्थ में षड्द्रव्यों के रूप में प्रसिद्ध छह पदार्थों का निरूपण किया गया है।

यह निरूपण वैज्ञानिक ढंग से किया गया है। द्रव्य के प्रत्येक पहलू पर गहन अध्ययन, चिन्तन और मनन करने के पश्चात् लेखक ने कलम चलाई है, जिसके परिणामस्वरूप जो भी नवनीत निकला है वह अपने आप में अखण्ड और परिपूर्ण है।

विषय के प्रति श्रोता अथवा पाठक की आदि से अन्त तक रुचि बनी रहे इसके लिये पृथक् प्रयास न करते हुए भी वे श्रोता अथवा पाठक के करीब पहुँच जाते हैं और अपनी साहित्यिक एवं सहज सूझ-बूझ के माध्यम से विषय में जान फूँक देते हैं।

आधुनिक वैज्ञानिक इन द्रव्यों को किस रूप में स्वीकार करते हैं और उन्हें क्या नाम देते हैं, इनका विवेचन भी पूज्य जिनेन्द्र वर्णी जी ने किया है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सामान्य रूप से द्रव्य दो ही प्रकार का है — एक जीव और दूसरा अजीव। इन्हें ही क्रमश: चेतन और जड़ के नाम से पुकारते हैं। जड़ के अन्तर्गत भौतिक पदार्थों का विश्लेषण किया जाता है। अत: तत्सम्बन्धित जो भी ज्ञान-विज्ञान है वह आधुनिक विज्ञान सम्मत मैटर का ही प्रतिरूप है और चेतन आत्मा अथवा जीव का प्रतिनिधिभूत है, जिसे अंग्रेजी में स्पिरिट (Sprit) कहते हैं।

सामान्यत: चेतन और जड़ — ये ही दो मूल तत्त्व हैं, किन्तु चेतन के अतिरिक्त जो जड़ रूप द्रव्य हैं उनकी संख्या पाँच है और वे हैं — पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल। जीव तत्त्व की तरह पुद्गल तत्त्व पर भी वर्णीजी ने विचार किया है। उन्होंने पुद्गल के उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य रूप को बहुत ही सरल रूप में प्रस्तुत किया है और स्वयं ही पदार्थ की परिवर्तनशीलता पर प्रश्नचिह्न लगाते हैं और बाद में उसका समाधान भी देते हैं। वे लिखते हैं कि —

कुछ पदार्थ ऐसे भी हैं जो बदलते हुए दिखाई नहीं देते हैं। जैसे पाषाण या धातु की प्रतिमा आदि। परन्तु सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर ऐसा नहीं है, क्योंकि सैंकड़ों वर्ष बीत जाने पर प्रतिमा अथवा पाषाण-स्तम्भ आदि जीर्ण होता दिखलाई देता है। अत: सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर प्रत्येक पदार्थ बदल रहा है।[१०]

पदार्थ गुणों व पर्यायों का समूह है। जिस प्रकार गुण पदार्थ से पृथक् कोई स्वतन्त्र वस्तु नहीं है। इसी प्रकार गुणों से पृथक् पदार्थ भी कोई स्वतन्त्र वस्तु नहीं है।

प्रत्येक पदार्थ में चार गुण पाये जाते हैं — द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव। इन चारों को पदार्थ के स्वचतुष्टय कहते हैं। द्रव्य से भिन्न गुण नहीं हैं और गुण से भिन्न द्रव्य नहीं हैं। इन्हीं द्रव्यों/गुणों/पदार्थों के समूह को वर्णीजी ने विश्व कहा है। वे लिखते हैं कि — जो कुछ भी यहाँ दिखाई दे रहा है या प्रतीति व अनुमान में आ रहा है उस सबके समूह का नाम विश्व है। अर्थात् पदार्थों के समूह का नाम विश्व है।[११]

पदार्थ, वस्तु और द्रव्य — ये सभी पर्यायवाची हैं। अत: जो सत्ता रखता है वही पदार्थ है। प्रत्येक पदार्थ परिवर्तनशील और क्रियाशील है। आम्र का हरे से पीला होना अथवा खट्टे से मीठा होना परिवर्तनशीलता है और आम्र का ऊपर से नीचे जमीन पर आना पदार्थ की क्रियाशीलता है।

जीव और पुद्गल — इन दो द्रव्यों के पश्चात् धर्मद्रव्य और अधर्मद्रव्य पर विचार किया गया है। यहाँ यह जानना आवश्यक है कि — जैनदर्शन में जब पदार्थों अथवा द्रव्यों के प्रसङ्ग में धर्मद्रव्य अथवा अधर्मद्रव्य की चर्चा की जाती है तो वहाँ धर्मद्रव्य का सम्बन्ध पुण्य से अथवा अधर्मद्रव्य का सम्बन्ध पाप से कदापि नहीं है। हाँ! ये अमूर्तिक हैं, अथवा दिखलाई नहीं देते हैं, किन्तु इनकी लम्बाई, चौड़ाई और मोटाई अवश्य है— जैसे जीव पदार्थ की। धर्म और अधर्म — इन दोनों द्रव्यों का आकार

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

लोकाकाश के समान है, पुरुषाकार है। ये न तो सिकुड़ते ही हैं और न ही विस्तार को प्राप्त होते हैं। ये दोनों पदार्थ लोकाकाश प्रमाण असंख्यातप्रदेशी हैं।

ये धर्मद्रव्य और अधर्मद्रव्य जीवद्रव्य और अजीवद्रव्य के चलने और रुकने में सहायक होकर उपकार करते हैं।

इन दो द्रव्यों की चर्चा के पश्चात् आकाशद्रव्य का विवेचन है। जैनदर्शन में आकाश को अमूर्तिक कहा गया है, अत: हमें जो कुछ भी आँखों से दिखाई दे रहा है वह सब पुद्गल है। क्योंकि रूप, रस, गन्ध और स्पर्श से युक्त पुद्गल ही है। इनमें से जहाँ एक भी रहेगा वहाँ शेष तीन भी अवश्य रहेंगे। इससे वैशेषिक दर्शन की यह मान्यता खण्डित हो जाती है कि पृथिवी में रूप, रस, गन्ध और स्पर्श — ये चारों गुण पाये जाते हैं। जल में रस, रूप और स्पर्श — ये तीन गुण पाये जाते हैं। तेज या अग्नि में रूप और स्पर्श— ये दो गुण अथवा वायु में केवल स्पर्श गुण पाया जाता है।

शब्द आकाश का गुण है, इस वैशेषिक मान्यता का भी पूज्य वर्णी जी के सतर्क विवेचन से खण्डन हो जाता है।

पूज्य वर्णीजी की शैली उपदेशात्मक है। वे ग्रन्थ भी लिखते हैं तो उपदेशात्मक शैली में। विषय चाहे कितना भी नीरस क्यों न हो वे अपने भावपूर्ण उद्गारों और रोचक तथा सहज ग्राह्य उदाहरणों के माध्यम से विषय का ऐसा प्रतिपादन करते हैं कि विषय हृदयङ्गत हुए बिना नहीं रहता है। उनके उदाहरण प्राय: सार्वजनिक जीवन से ग्रहण किये गये होते हैं। इसीलिये बच्चे, बूढ़े अथवा कम पढ़े-लिखे लोग भी समझ जाते हैं। तर्क उनका ऐसा सटीक होता है कि लक्ष्य पर सीधे चोट करता है।

सबसे अन्त में पूज्य वर्णीजी ने काल द्रव्य का विवेचन किया है। इस प्रकार छह द्रव्यों/पदार्थों का विवेचन हो जाता है। इन द्रव्यों से ठसाठस भरे हुए इस लोक का चिन्तन करना हमारी बारह भावनाओं में भी एक है। इन द्रव्यों पदार्थों के स्वरूप-चिन्तन से संसार के वास्तविक स्वरूप का ज्ञान होता है और हम संसार की असारता का चिन्तन करते हुए वैराग्य भावना को जगा सकते हैं। किन्तु आज की वर्तमान स्थिति भयावह है। जीव लोक में निवास करता हुआ सुख-शान्ति को प्राप्त करना चाहता है, किन्तु उसके सारे प्रयासों के बदले उसे दु:ख-दर्द ही मिलता है। इसका कारण यह है कि हम जिस लोक में निवास करते हैं, उसके स्वरूप को पहचानने में हमने कहीं भूल की है। हम कहीं भटक गये हैं। सुख के साधनों की जगह हमने दु:ख के साधनों को जुटाने का प्रयास किया है। अत: हम पदार्थों के वास्तविक रूप को समझें और संसार-भोगों से विरक्त होकर आत्म-कल्याण की ओर उन्मुख हों यही पूज्य वर्णीजी का सन्देश 'पदार्थ विज्ञान' नामक ग्रन्थ के लेखन में हेतु रहा है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अन्त में मैं उन तपःपूत, अनासक्त योगी, अक्षर-पुरुष पूज्य वर्णीजी के चरणों में अपनी विनम्र श्रद्धाञ्जलि अर्पित करता हूँ।

●

सन्दर्भ-सूची

१. **जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश** (भाग १,२,३,४) —क्षु० जिनेन्द्र वर्णी, प्रकाशक— भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली, सन् १९७०-१९७३.

२. **पदार्थविज्ञान**, पृष्ठ १.

३. वही, पृष्ठ १-२.

४. वंही, पृष्ठ २-३.

५. वही, पृष्ठ ३.

६. **जैनदर्शन में पदार्थ विज्ञान** —जिनेन्द्रवर्णी, प्रकाशक— श्री जिनेन्द्रवर्णी ग्रन्थमाला, ५८/४ जैन स्ट्रीट, पानीपत, द्वितीय संस्करण, सन् १९८२.

७. हिंसादिष्विहामुत्रापायावद्यदर्शनम् दुःखमेव वा। — **तत्त्वार्थसूत्र**, ७/९-१०.

८. मैत्री प्रमोदकारुण्यमाध्यस्थनि च सत्त्वगुणाधिकक्लिश्यमानाविनयेषु। — वही, ७/११.

९. **पदार्थविज्ञान**, सम्पादकीय, पृ० ७.

१०. वही, पृष्ठ ९.

११. वही, पृष्ठ ६.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

श्रमण

गुरु का स्वरूप : गुरुतत्त्वविनिश्चय के विशेष सन्दर्भ में

*डॉ० विजयकुमार जैन**

भारतीय परम्परा में गुरु और गुरुकुलों का बहुत ही ऊँचा स्थान है। जगत का कोई भी ऐसा कार्य नहीं जो बिना किसी गुरु या पथ-प्रदर्शक के सहज रूप में सफल हो जाए। समाज की आकांक्षाओं, आवश्यकताओं और आदर्शों को व्यावहारिक रूप में परिणत करने का कर्तव्य गुरु को ही निभाना पड़ता है। यदि यह कहा जाए कि गुरु हमारी संस्कृति का केन्द्रबिन्दु होता है, तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी। जिस प्रकार तराजू के दो पलड़ों के बीच डण्डी होती है और डण्डी के मध्य मुठिया होती है जो केन्द्र का कार्य करती है, उसी प्रकार गुरु हमारी संस्कृति के तीन मुख्य तत्त्वों — देव, गुरु और धर्म के मध्य रहकर केन्द्र का कार्य करते हैं। जैन परम्परा में भी गुरु को नमस्कार महामन्त्र में "नमो आयरियाणं" के उच्चारण के साथ मध्यस्थ स्थान प्राप्त है।

केवल पुस्तकें पढ़ने से काम नहीं चलता; जो मनुष्य उस कार्य को करके सफल हो चुका है, उसकी सलाह आवश्यक होती है और यदि कठिन कार्य हो तो कुछ दिनों तक उसके पास रहकर विनय और सेवा से उसे प्रसन्न रखते हुए उससे सीखना पड़ता है। न केवल लौकिक कार्य में ही बल्कि आध्यात्मिक कार्यों में भी गुरु की आवश्यकता होती है। इसी कारण जब कभी भी अध्यापक अथवा अध्यापन के विषय में चर्चा होती है तो किसी न किसी रूप में हम अपने उन प्राचीन गुरुओं को आदर्श रूप में स्वीकार करते हैं। चाहे वह अध्यापन का क्षेत्र हो अथवा ज्ञान के अविष्कार का विषय हो, सभी क्षेत्रों में हमें गुरु की आवश्यकता पड़ती है। जहाँ तक विद्यार्थी जीवन को सार्थक बनाने की बात है तो उसमें गुरु का सर्वोच्च स्थान है।

---

*. प्रवक्ता, पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

'गुरु' का शाब्दिक अर्थ

सामान्यत: अध्यापक या आचार्य के लिए 'गुरु' शब्द का प्रयोग किया जाता है। लेकिन गुंरु शब्द का कई अर्थों में प्रयोग देखा जाता है, यथा—

व्याकरण में ह्रस्व और दीर्घ दो प्रकार के स्वर माने गये हैं, जिसमें दीर्घ को गुरु के नाम से भी जाना जाता है।

ज्योतिषशास्त्र में बृहस्पति नाम का एक ग्रह है जिसे गुरु कहा जाता है।

गुरु शब्द की व्युत्पत्ति "गृ" धातु में "कु" और 'उत्व' प्रत्यय लगने से होती है। व्युत्पत्तिमूलक अर्थ बताते हुए पं० श्री केशवदेव शर्मा ने लिखा है — 'गृ शब्दे' क्रयादि और 'गृ निगरणे' तुदादिगण की धातु को 'कृग्रोरूच्च' इस उणादि सूत्र से 'कु' प्रत्यय और उकारान्तादेश होने पर 'उरण परः' इससे उरादेशान्तन्तर 'कृत्तद्धिसमासाश्च' इससे प्रतिपादक संज्ञा के पश्चात् 'सु' विभक्ति आने पर 'गुरु' शब्द सिद्ध होता है।[१] तन्त्र की दृष्टि से विचार करते हुए पण्डितजी ने पुन: लिखा है — 'गुरु' शब्द में गकार का अर्थ सिद्धदाता है, रेफ का अर्थ पापनाशक तथा उकार का अर्थ शम्भु है।[२] तात्पर्य है जो तत्त्वज्ञान को प्रकट कर शिव के साथ अभिन्न (मिलान) करा देता है, वह गुरु है। **जैनेन्द्रसिद्धान्तकोश** में गुरु शब्द का अर्थ महान् बताते हुए कहा गया है कि लोक में अध्यापकों को गुरु कहते हैं।[३] माता-पिता भी गुरु कहलाते हैं, परन्तु धार्मिक प्रकरण में आचार्य, उपाध्याय व साधु गुरु कहलाते हैं, क्योंकि वे जीव को उपदेश दे कर अथवा बिना उपदेश दिये ही केवल अपने जीवन का दर्शन कराकर कल्याण का वह सच्चा मार्ग बताते हैं, जिसे पाकर वह सदा के लिए कृतकृत्य हो जाता है। इसके अतिरिक्त विरक्त चित्त सम्यग्दृष्टि श्रावक भी उपरोक्त कारणवश ही गुरु संज्ञा को प्राप्त करता है। इसी प्रकार उपाध्याय अमरमुनि ने 'गुरु' का शाब्दिक अर्थ बताते हुए कहा है — गुरु शब्द में 'गु' अन्धकार का द्योतक है और 'रु' शब्द प्रकाश का। अत: जो हमें अन्धकार से प्रकाश की ओर ले जाए वह गुरु है।

गुरु की परिभाषा

छोटे से छोटा शिल्पकार हो या बड़े से बड़ा अभियन्ता उसे किसी न किसी रूप में कोई न कोई उपदेष्टा, गुरु, उपाध्याय, आचार्य या मार्गदर्शक चाहिए ही। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में गुरु की आवश्यकता होती है। तभी तो कहा गया है —

गृणाति उपदिशति धर्ममिति गुरुः।

गिरत्य ज्ञानमिति गुरुः।

यद्धा गीर्यते स्तूयते देवगन्धर्वादिभिरिति गुरुः।[४]

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अर्थात् धर्म का जो उपदेश दे, अज्ञानरूपी तम का विनाशकर ज्ञानरूपी ज्योति से जो प्रकाश करे, देव गन्धर्वादि से जो स्तुत्य हो, उन्हीं साक्षात् देव की संज्ञा 'गुरु' है। गुरु शब्द का लक्षण बताते हुए **सर्ववेदान्तसिद्धान्तसारसंग्रह** में शंकराचार्य ने कहा है— जिसने अविद्यारूपी ग्रन्थि का भेदन कर दिया है या जो अविद्यारूपी ग्रन्थि से छूट चुका है, वह गुरु है।[५]

जैन ग्रन्थों में गुरु के लिए आचार्य,[६] बुद्ध,[७] धर्माचार्य,[८] उपाध्याय[९] आदि शब्दों के प्रयोग भी देखने को मिलते हैं। **भगवतीसूत्र** के वृत्तिकार अभयदेव सूरि के अनुसार- जो जिनेन्द्र द्वारा प्ररूपित आगमज्ञान को हृदयंगम कर उसे आत्मसात करने की उत्कण्ठा वाले शिष्यों द्वारा विनयादिपूर्ण, मर्यादापूर्वक सेवित हो उसे आचार्य कहते हैं।[१०] **भगवतीआराधना** में कहा गया है— दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप और वीर्य इन पाँच आचारों का स्वयं निरतिचार पालन करता है तथा दूसरों को इसमें प्रवृत्त करता है, वह आचार्य है।[११] वीरसेनाचार्य ने **षट्खण्डागम** की धवला टीका में लिखा है— जो पाँच अक्षरों का स्वयं पालन करता है और दूसरों से करवाता है, वह आचार्य कहलाता है।[१२] **सर्वार्थसिद्धि** में आचार्य पूज्यपाद ने कहा है कि जिसके निमित्त से व्रतों का आचरण करता है वह आचार्य कहलाता है।[१३] **गुरुतत्त्वविनिश्चय** में कहा गया है— जो आचाररूपी व्यवहार को जानने वाला है, व्यवहाररूपी आचार का प्रतिपादन करने वाला है तथा व्यवहाररूपी क्रिया को करने वाला है, वह सद्गुरु है।[१४] तात्पर्य है व्यवहार, व्यवहारी और व्यवहर्तव्य की त्रिपुटी को जानने वाला सद्गुरु है।

गुरु के लक्षण

विद्यार्थी के लिए सद्गुरु का होना अत्यन्त ही आवश्यक है। सद्गुरु के अभाव में विद्यार्थी कितनी ही कुशाग्र बुद्धि का क्यों न हो, वह उसी प्रकार प्रकाशित नहीं हो सकता है जिस प्रकार सूर्य के बिना चन्द्रमा। लेकिन प्रश्न उपस्थित होता है कि सद्गुरु की संगति कैसे की जाये? उसकी पहचान क्या है? उसके लक्षण क्या हैं? जिसे देखकर यह समझा जाए कि यह सद्गुरु है या असद्गुरु। **भगवतीसूत्र** में सद्गुरु के लक्षणों को बताते हुए कहा गया है— जो सूत्र और अर्थ दोनों का ज्ञाता हो, उत्कृष्ट कोटि के लक्षणों से युक्त हो, संघ के लिए मेढ़ि के समान हो, जो अपने गण, गच्छ अथवा संघ को सभी प्रकार के सन्तापों से पूर्णतः विमुक्त रखने में सक्षम हो तथा जो अपने शिष्यों को आगमों की गूढ़ अर्थसहित वाचना देता हो वही आचार्य कहलाने के योग्य है।[१५] प्रवचनरूपी समुद्र-जल के बीच स्नान करने से अर्थात् परमात्मा के परिपूर्ण अभ्यास और अनुभव से जिनकी बुद्धि निर्मल हो गयी है, जो निर्दोष रीति से छह आवश्यकों का पालन करता हो, जो मेरु के समान निष्कम्प हो, शूरवीर हो, सिंह के समान निर्भीक हो, श्रेष्ठ हो, देश, कुल और जाति से शुद्ध हो, सौम्यमूर्ति हो, अन्तरंग और बहिरंग परिग्रह से रहित हो, आकाश के समान निर्लेप हो, संघ के अनुग्रह में

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कुशल हो, सूत्रार्थ में विशारद हो, जिनकी कीर्ति सर्वत्र फैल रही हो, जो सारण, वारण और शोधन करने वाली क्रियाओं में निरन्तर उद्यत हो, वे आचार्य परमेष्ठी के समान होते हैं।[१६] **आदिपुराण** में भी आचार्य के लक्षण बताये गये हैं, जो निम्न प्रकार हैं— जो सदाचारी हो, स्थिर बुद्धि हो, जितेन्द्रिय हो, अन्तरंग-बहिरंग सौम्यता हो, व्याख्यान शैली की प्रवीणता हो, सुबोध व्याख्यान शैली हो, प्रत्युत्पन्नमतित्व हो, गम्भीर हो, प्रतिभा से युक्त हो, तार्किकता अर्थात् प्रश्न तथा कुतर्कों को सहने वाला हो, दयालु हो, दूसरे अर्थात् शिष्य के अभिप्रायों को अवगत करने में सक्षम हो, समस्त विद्याओं का ज्ञाता हो, स्नेहशील हो, उदार प्रवृत्ति का हो, सत्यवादी हो, सत्कुलोत्पन्न हो, परहित साधन तत्परता आदि से युक्त हो।[१७]

गुरुतत्त्वविनिश्चय[१८] में निम्नलिखित लक्षण बताये गये हैं —

— जो सुन्दर व्रत वाला हो।

— जो सुशील हो।

— जो दृढ़ व्रत वाला हो।

— जो दृढ़ चारित्र वाला हो।

— जो अनिन्दित अंग वाला हो।

— जो अपरिग्रही हो।

— जो राग-द्वेष-रहित हो।

— मोह-मिथ्यात्वरूपी मल कलंक से रहित हो।

— उपशान्त वृत्ति वाला हो।

— स्वप्नशास्त्र का जानकार हो।

— महावैराग्य के मार्ग का जानकार हो।

— जो स्त्रीकथा, भक्तकथा, चौर्यकथा, राजकथा और देशकथाओं को न करने वाला हो।

— जो अत्यन्त अनुकम्पाशील हो।

— परलोक में प्राप्त होने वाले विघ्नों से डरने वाला हो।

— जो कुशील का शत्रु हो।

— जो शास्त्रों के भावार्थ को जानने वाला हो।

— जो शास्त्रों के रहस्यों को जानने वाला हो।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

— जो रात-दिन अहिंसादि लक्षण तथा क्षमादि दशधर्म में लीन रहने वाला हो।

— जो निरन्तर पर्वत के समान अडिग बारह तपों को करने वाला हो।

— जो पाँच समितियों का सतत् पालन करने वाला हो।

— जो सतत् तीन गुप्तियों से युक्त रहने वाला हो।

— स्वशक्ति से अठारह हजार (१८,०००) शीलांग की आराधना करने वाला हो।

— उत्सर्गरुचि, तत्त्वरुचि और शत्रु-मित्र के साथ समभाव रखने वाला हो।

— जो सात भयस्थानों से मुक्त हो।

— आठ मदस्थानों से मुक्त हो।

— जो नौ ब्रह्मचर्य तथा गुप्ति की विराधना से डरने वाला हो।

— जो बहुश्रुत हो।

— जो आर्यकुल में जन्मा हो।

— जो साध्वी वर्ग के संसर्ग में न रहने वाला हो।

— जो निरन्तर धर्मोपदेश करने वाला हो।

— जो सतत् ओध समाचार की प्ररूपणा करने वाला हो।

— साधु-मर्यादा में रहने वाला हो।

— जो समाचारी के भंग होने से डरने वाला हो।

— जो आलोचना के योग्य शिष्य को प्रायश्चित करवाने में समर्थ हो।

— जो वन्दन, प्रतिक्रमण, स्वाध्याय, व्याख्यान, आलोचना, उद्देश और समुद्देश आदि सात समूहों की विराधना का जानकार हो।

— प्रव्रज्या, उपसम्पदा और उद्देश-समुद्देश-अनुज्ञा की विराधना का जानकार हो।

— द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव-भवान्तर के अन्तर को जानने वाला हो।

— द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावनादि आलम्बन से विमुक्त हो।

— जो थके हुए बाल, वृद्ध, नवदीक्षित साधु और साध्वी को मोक्षमार्ग की ओर प्रवर्तन करने में कुशल हो।

— जो ज्ञान, दर्शन और चारित्ररूपी तप की प्ररूपणा करने वाला हो।

— जो चरण और करण का धारक हो।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

— जो ज्ञान, दर्शन और चारित्ररूपी तपों के गुणों में प्रभावक हो।

— जो दृढ़ सम्यक्त्व वाला हो।

— जो सतत् परिश्रम करने वाला हो।

— जो धैर्य रखने में समर्थ हो।

— जो गम्भीर स्वभाव वाला हो।

— जो अतिशय सौम्य कान्ति वाला हो।

— सूर्य की भाँति तपरूपी तेज से दूसरे द्वारा पराजित न होने वाला हो।

— दान, शील, तप और भावनारूपी चतुर्विध धर्म में उत्पन्न करने वाले विघ्नों से डरने वाला हो।

— जो सभी प्रकार की अशातनाओं से डरने वाला हो।

— ऋद्धि, रस, सुख आदि तथा रौद्र, आर्त्त आदि ध्यानों से अत्यन्त मुक्त हो।

— सभी आवश्यक क्रियाओं में उद्यत हो।

— जो विशेष लब्धियों से युक्त हो।

— जो बहुनिद्रा न करने वाला हो।

— जो बहुभोजी न हो।

— जो सभी आवश्यक, स्वाध्याय, ध्यान, अभिग्रह आदि में परिश्रमी हो।

— जो परीषह और उपसर्ग से न घबराने वाला हो।

— जो योग्य शिष्य को संग्रहीत करने में सक्षम हो।

— अयोग्य शिष्य का त्याग करने की विधि को जानने वाला हो।

— जो मजबूत शरीर वाला हो।

— जो स्व-पर शास्त्रों का मर्मज्ञ हो।

— क्रोध, मान, माया, लोभ, ममता, रति, हास्य, क्रीड़ा, काम, अहितवाद आदि बाधाओं से सर्वथा मुक्त हो।

— जो सांसारिक विषयों में लिप्त रहने वाले व्यक्ति को अपने अभिभाषण/धर्मोपदेश द्वारा वैराग्य उत्पन्न कराने में समर्थ हो।

— जो भव्य जीवों (आत्मा) को प्रतिबोध द्वारा गच्छ में लाने वाला हो।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

उपर्युक्त गुणों का विवेचन करने के पश्चात् यह कहा गया है इन गुणों से युक्त साधु गणी है, गणधर है, तीर्थ है, तीर्थङ्कर है, अरिहन्त है, केवली है, जिन है, तीर्थ प्रभावक है, वंद्य है, पूज्य है, नमस्करणीय है, दर्शनीय है, परमपवित्र है, परमकल्याण है, परममंगल है, सिद्ध है, मुक्त है, शिव है, मोक्ष है, रक्षक है, सन्मार्ग है, गति है, शरण्य है, पारंगत और देवों का देव है।[१९]

इन गुणों के अतिरिक्त आचार्य/साधु/मुनि के मूलगुण एवं उत्तरगुणों की विवेचना भी जैन परम्परा में मिलती है। चारित्ररूपी वृक्ष के मूल अर्थात् जड़ के समान जो हों वे मूलगुण कहलाते हैं तथा मूलगुणों की रक्षा के लिए चारित्ररूपी वृक्ष की शाखा, प्रशाखावत् जो गुण हैं, वे उत्तरगुण हैं। मूलगुण और उत्तरगुण की संख्या को लेकर श्वेताम्बर और दिगम्बर परम्परा में अन्तर है। श्वेताम्बर परम्परा के अनुसार साधु के पाँच मूलगुण हैं तथा बाईस उत्तरगुण हैं।[२०]

पाँच मूलगुण — अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह।

बाईस उत्तरगुण — (१) श्रोत्रेन्द्रिय-निग्रह, (२) चक्षुरिन्द्रिय-निग्रह, (३) घ्राणेन्द्रिय-निग्रह, (४) जिह्वेन्द्रिय-निग्रह, (५) स्पर्शेन्द्रिय-निग्रह, (६) क्रोध-विवेक, (७) मान-विवेक, (८) माया-विवेक, (९) लोभ-विवेक, (१०) भाव सत्य, (११) करण सत्य, (१२) योग सत्य, (१३) क्षमा, (१४) विरागता, (१५) मनःसमाहरणता, (१६) वचन समाहरता, (१७) काय समाहरणता, (१८) ज्ञान सम्पन्नता, (१९) दर्शन सम्पन्नता, (२०) चारित्र सम्पन्नता, (२१) वेदनातिसहनता, (२२) मरणान्तिकातिसहनता आदि।

दिगम्बर परम्परा के अनुसार २८ मूलगुण हैं, यथा— पाँच महाव्रत, पाँच समिति, पाँच इन्द्रिय-निग्रह, छः आवश्यक, केशलोंच, आचेलक्य, अस्नान, क्षितिशयन, अदन्तघर्षण, स्थितभोजन और एकभक्त।[२१] इसी प्रकार चौरासी लाख उत्तरगुण माने गये हैं। दिगम्बर परम्परा में मान्य मूलगुण और उत्तरगुण का विवेचन जैनधर्म-दर्शन के विद्वान् डॉ० फूलचन्द जैन 'प्रेमी' ने अपनी पुस्तक 'मूलाचार का समीक्षात्मक अध्ययन' में बहुत ही सुन्दर ढंग से किया है। किन्तु उनका यह कहना कि इस तरह मूलगुण और उत्तरगुण की संख्या श्वेताम्बर परम्परा में निर्धारित नहीं है, उचित नहीं जान पड़ता, क्योंकि सूत्रकृतांगसूत्र के नवम अध्ययन में गाथा ४४० से ४४६ तक अहिंसादि पञ्चमहाव्रत मूलगुणों के दोषों के त्याग का निर्देश किया गया है जिससे यह स्पष्ट होता है कि मूलगुण पाँच हैं। इतना ही नहीं जिस समवायांग का उद्धरण देते हुए डॉ० प्रेमी जी ने यह स्पष्ट किया है कि श्वेताम्बर परम्परा में मूलगुण-उत्तरगुण की संख्या निर्धारित नहीं है, उसी उद्धरण की विवेचना में युवाचार्य श्री मधुकर मुनि ने यह स्पष्ट लिखा है कि सत्ताईस में से पाँच मूलगुण है और बाईस उत्तरगुण है। जैन सिद्धान्त

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

बोल संग्रह में भी कहा गया है कि साधुओं के लिए पाँच महाव्रत मूलगुण हैं तथा श्रावकों के लिए पाँच अणुव्रत मूलगुण हैं।[२२] **गुरुतत्त्वविनिश्चय** के अनुसार भी पाँच ही मूलगुण हैं, किन्तु उत्तरगुण १०३ गिनाये गये हैं।[२३] उत्तरगुणों के अन्तर्गत ४२ पिण्डविशुद्धि, ८ समिति, २५ भावना, १२ तप, १२ प्रतिमा और ४ अभिग्रह को समावेशित किया गया है। यहाँ प्रवृत्ति स्वरूप गुप्ति का समिति में समावेश करते हुए समिति के आठ भेद दर्शाये गये हैं। इन सभी सन्दर्भों से यह तो स्पष्ट है कि श्वेताम्बर परम्परा में भी मूलगुण और उत्तरगुण की संख्या का विभाजन किया गया है।

गुरु के प्रकार

जैनागमों में गुरु के प्रकार को विभिन्न रूपों में विवेचित किया गया है। किसी ग्रन्थ में तीन प्रकार, तो किसी में चार और किसी में पाँच प्रकार के बताये गये हैं। जैसे— **रायपसेणइयसुत्तं**[२४] (राजप्रश्नीयसूत्र) में तीन — कलाचार्य, शिल्पाचार्य और धर्माचार्य; **गुरुतत्त्वविनिश्चय**[२५] में चार — नामाचार्य, स्थापनाचार्य, द्रव्याचार्य और भावाचार्य; **जैनेन्द्रसिद्धान्त कोश**[२६] में पाँच — गृहस्थाचार्य, प्रतिष्ठाचार्य, बालाचार्य, निर्यापकाचार्य और एलाचार्य, प्रकार बताये गये हैं।

कलाचार्य

कलाचार्य की योग्यता एवं कार्य का स्पष्ट वर्णन अबतक कहीं भी देखने को नहीं मिला है। चूँकि जैन शिक्षा-पद्धति में बहत्तर (७२) कलाओं की शिक्षा देने का विधान है, अत: कहा जा सकता है कि जो आचार्य ७२ कलाओं की शिक्षा, विशेषत: ललितकला और जीवनोपयोगी कलाओं की शिक्षा देते थे, उन्हें कलाचार्य कहा जाता रहा होगा।

शिल्पाचार्य

जैन-ग्रन्थों में शिल्पाचार्य की महत्ता पर विशेष प्रकाश डाला गया है। जटासिंह नन्दि ने **वरांगचरितम्** के द्वितीय सर्ग में कहा है कि शिल्पाचार्य को विविध प्रकार की ललितकलाओं का परिज्ञान आवश्यक है। जो शिल्पाचार्य वास्तुकला की शिक्षा में प्रवीण हैं वे सुयोग्य स्नातकों को विभिन्न कला में दक्ष करने में समर्थ होते हैं।[२७]

धर्माचार्य

जो धर्म का बोध कराते हैं, वे धर्माचार्य हैं। धर्माचार्य का वर्णन प्राय: ग्रन्थों में देखने को मिलता है। **पञ्चाध्यायी** में कहा गया है कि व्रत, तप, शील और संयम आदि को धारण करने वाला आचार्य नमस्करणीय है तथा साक्षात् गुरु है।[२८]

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आचार्य (गुरु) के उपर्युक्त विभाजन से यह स्पष्ट होता है कि कलाचार्य और शिल्पाचार्य का सम्बन्ध मानव के भौतिक जीवन से है तथा धर्माचार्य का सम्बन्ध मानव के आध्यात्मिक जीवन से है।

गृहस्थाचार्य

व्रती गृहस्थ भी आचार्य के तुल्य होते हैं, क्योंकि दीक्षाचार्य के द्वारा दी हुई दीक्षा के समान ही गृहस्थाचार्यों की क्रिया होती है।[२९]

प्रतिष्ठाचार्य

जो देश, कुल और जाति से शुद्ध हो, निरूपम अंग का धारक हो, विशुद्ध सम्यग्दृष्टि हो, प्रथमानुयोग में कुशल हो, प्रतिष्ठा के लक्षण एवं विधि का जानकार हो, श्रावक के गुणों से युक्त हो, श्रावकाचार शास्त्र में स्थिरबुद्धि हो, इस प्रकार के गुण वाला जिनशासन में प्रतिष्ठाचार्य कहा गया है।[३०] लेकिन सामान्य रूप से यह कहा जा सकता है कि वह आचार्य जो जिनशासन को समाज में प्रतिष्ठित करता है, प्रतिष्ठाचार्य है।

बालाचार्य

बालाचार्य यानी कम उम्र का आचार्य। **भगवती आराधना** में वर्णन आया है कि अपनी आयु अभी कितनी रही है इसका विचार कर, तदनन्तर अपने शिष्य समुदाय को अपने स्थान में जिसकी स्थापना की है, ऐसे बालाचार्य को बुलाकर सौम्य तिथि, करण, नक्षत्र और लग्न के समय शुभ प्रदेश में, अपने गुण के समान जिसके गुण हैं, ऐसे वे बालाचार्य अपने गच्छ का पालन करने के योग्य हैं, ऐसा विचार कर उस पर अपने गण को विसर्जित करते हैं अर्थात् अपना पद छोड़कर सम्पूर्ण गण को बालाचार्य के लिए छोड़ देते हैं।[३१] अर्थात् बालाचार्य ही उस समय से गण का आचार्य माना जाता है।

निर्यापकाचार्य

जो संसार से भयमुक्त है, जो पापकर्म भीरू है और जिसको जिनागम का सर्वस्वरूप मालूम है, ऐसे आचार्य के चरणमूल में वह यति समाधिमरणोधमी होकर आराधना की सिद्धि करता है।[३२]

एलाचार्य

जो गुरु के पश्चात् मुनि चारित्र का क्रम मुनि और आर्यिकादि को कहता है उसे अनुदिश अर्थात् एलाचार्य कहते हैं।[३३]

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

गुरूतत्त्वविनिश्चय[३४] में गुरु के चार प्रकार बताये गये हैं — नामाचार्य, स्थापनाचार्य, द्रव्याचार्य और भावाचार्य।

नामाचार्य— वह व्यक्ति जिसका नाम आचार्य हो, किन्तु कार्य नहीं हो।

स्थापनाचार्य— किसी चित्र या प्रतिमा में आचार्य के स्वरूप को स्थापित कर यह कहना कि यह आचार्य है, स्थापनाचार्य है।

द्रव्याचार्य— वर्तमान में आचार्य नहीं हैं लेकिन भूत में आचार्य थे और भविष्य में होने वाले हैं। द्रव्याचार्य के पुनः दो विभाजन किये गये हैं[३५]— (क) प्रधान द्रव्याचार्य, तथा (ख) अप्रधान द्रव्याचार्य। जो आचार्य वर्तमान में भावाचार्य नहीं है, लेकिन भविष्य में भावाचार्य बनाने योग्य है, वह प्रधान द्रव्याचार्य है। इसी तरह जो आचार्य भावाचार्य नहीं है और न भविष्य में ही भावाचार्य बनाने लायक है, वह अप्रधान द्रव्याचार्य है।

भावाचार्य— जो आचार्य के समग्र गुणों से सम्पन्न हो वह भावाचार्य है। **गच्छाचार प्रकीर्णक** में कहा गया है कि जो आचार्य जिनमत का सम्यक् प्रकाशन करता है, वह भावाचार्य है। **गुरुतत्त्वविनिश्चय** के प्रथम उल्लास की सतरहवीं गाथा देखने से ऐसा प्रतीत होता है कि मुख्य रूप से गुरु या आचार्य दो प्रकार के होते हैं — (१) व्यवहारी आचार्य/साधु तथा (२) निश्चयी आचार्य/साधु। व्यवहार की दृष्टि से गुरु के अनेक प्रकार होते हैं, क्योंकि व्यवहार में अनेक गुरुओं की पूजा होती है और उनसे बहुत से लाभ होते हैं। "हम बहुत से गुरुओं की पूजा करते हैं" की भावना मन में गुरु के प्रति पूजत्व भाव को जागृत करता है। दूसरी ओर निश्चयदृष्टि से एक गुरु की पूजा होती है। एक गुरु की पूजा करने से अनेक गुरुओं की पूजा हो जाती है।[३६] ग्रन्थ के द्वितीय उल्लास की द्वितीय गाथा में कहा गया है कि जो व्यवहार-व्यवहारी और व्यवहर्तव्य की त्रिपुटी को जानने वाला है वह सद्गुरु है।[३७] ग्रन्थ के अन्त में वर्णन आया है कि आत्मभाव से एकरूप वाला तथा श्रद्धा, ज्ञान, आचरणभाव आदि व्यवहार में निरन्तर प्रवृत्त रहने वाले सुगुरु के यहाँ ही सम्पूर्ण जगत का शरण है।[३८]

गुरु के उपर्युक्त चारों प्रकारों में भावाचार्य को विशेष महत्त्व दिया गया है, क्योंकि प्रथम उल्लास की बारहवीं गाथा में स्पष्ट कहा गया है — नामधारी गुरु की सेवा करने से गुरुभक्ति नहीं होती, चारों में से भावाचार्य गुरु ही स्वीकारने योग्य हैं।[३९]

गुरूतत्त्वविनिश्चय में आचार्य या गुरु के आचार का वर्णन साधु के रूप में किया गया है। यद्यपि दोनों में कुछ अन्तर है। आचार्य या उपाध्यक्ष की तरह साधु भी मुनि के आचार का पालन करता है। लेकिन साधु पर न तो आचार्य की भाँति संघ-व्यवस्था

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

और संग्रह-निग्रह का दायित्व होता है और न ही उपाध्याय की भाँति शिक्षा का उत्तरदायित्व होता है। मुनि का आचरण पालन करने वाला गुरु भी हो सकता और शिष्य भी।

सन्दर्भ-सूची

१. **कल्याण** (योगाङ्क), गीताप्रेस गोरखपुर, पृ० ५४५.

२. वही

३. **जैनेन्द्रसिद्धान्तकोश**, जिनेन्द्र वर्णी, भारतीय ज्ञानपीट दिल्ली, भाग २, पृ० २५१.

४. **कल्याण**, (योगाङ्क), पृ० ५४५.

५. **सर्ववेदान्त सिद्धान्तसारसंग्रह** (गुजराती अनुवाद), भिक्षु अखण्डानन्दजी, सस्ता साहित्यवर्धक कार्यालय, मुम्बई सं० २००२.

६. **उत्तराध्ययन**, सम्पा०- साध्वी चन्दना, वीरायतन प्रकाशन, आगरा १९७२, १/४०-४१.

७. वही, १/८, १७,२७.

८. वही, १/४६.

९. वही, ३६/२६५.

१०. आ मर्यादयातद् विषयविनयरूपया चर्यन्ते सेव्यते जिनशासनार्थोपदेशकतया तदाकांक्षिभिरित्याचार्याः। **भगवतीसूत्र वृत्ति.**

११. आयारं पंचविहं चरदि जो णिरदिचारं
उवसदि य आयारं एसो आयारवं णाम। — **भगवतीआराधना**, शिवार्य, अन्तकीर्ति ग्रन्थमाला, बम्बई, ४१९.

१२. पंचविद्यमाचारं चरन्ति चारयन्तीत्याचार्याः। **षट्खण्डागम** (धवलाटीका), सम्पा. डॉ० हीरालाल जैन, अमरावती संस्करण, १/१, १, १, ४८/८.

१३. आचरन्ति तस्माद् व्रतानीत्याचार्यः। **सर्वार्थसिद्धि**, भारतीय ज्ञानपीठ, १९५५, ९/२४.

१४. जह दीवो अप्पाणं परं च दीवेइ दित्तिगुणजोगा।
तह रयणत्तयजोगा, गुरू वि मोहंधयारहरो।।
— **गुरुतत्त्वविनिश्चय**, गुज०अनु० मुनिश्री राजशेखर विजय जी, प्रका०-जैन साहित्य विकास मण्डल, मुम्बई १९८५, १/५.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

१५. सूत्तत्थविउलक्खण-जुरतो गच्छस्स मेढ़िभूओ य।
गणतत्तिविप्पमुक्को अत्थं वाएअ आयरिओ।। — **भगवतीसूत्र** (अभदेववृत्ति) ऋ०के० जैन श्वे० संस्था, रतलाम, १९३७, १/१/१ (मंगलाचरण)

१६. **षट्खण्डागम** (धवला टीका), १/१, १,१, ४८/८.

१७. आदिपुराण, आ० जिनसेन, पन्नालाल जैन साहित्याचार्य, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, १९६३, १/१२६-३३.

१८. व्यवहारं जाणंतो, व्यवहारं चेव पन्नवेमाणो।
व्यवहारं फासंतो, गुरुगुणजुत्तो गुरू होइ।। — **गुरुतत्त्वविनिश्चय,** २/१.

१९. जे सुशीलाइगुणो, गुणणिक्खेवारिहो गुरु भणिओ।
आणाभंगो इयराऽणुन्नाइ महाणिसीहम्मि।। वही, १/३०.

२०. **समवायांगसूत्र,** सम्पा० युवाचार्य मधुकर मुनि, श्री आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर १९८२, समवाय २७.

२१. डॉ० फूलचन्द जैन 'प्रेमी', **मूलाचार का समीक्षात्मक अध्ययन,** पार्श्वनाथ विद्यापीठ शोध संस्थान, वाराणसी १९८७, पृ० ५१.

२२. **जैनसिद्धान्तबोलसंग्रह,** प्रथम भाग, संग्रहकर्ता- भैरोदान सेठिया, अगरचन्द भैरोदान सेठिया, जैन पारमार्थिक संस्था, बीकानेर, पृ० ३२.

२३. ननु मूलगुणास्तावत्प्राणातिपातादिनिवृत्त्यात्मकाः पञ्च ज्ञायन्त एव। उत्तरगुणास्तु के ते? इत्यत आह—
पिंडस्स जा विसोही, समिईओ भवणा तवो दुविहो।
पडिमा अभिग्गहा वि य, उत्तरगुण मो वियाणाहि।।
— **गुरुतत्त्वविनिश्चय,** १/९४.

२४. **रायपसेणइएसुत्तं,** सम्पा०- पं. बेचरदास दोशी, गुर्जर ग्रन्थरत्न कार्यालय, गाँधी मार्ग, अहमदाबाद वीर संवत २४६४, सुत्त १९१, पृ० ३२९.

२५. तित्थयरसमा, भावाचरिया, मणिया महाणिसीहम्मि।
णामठवणाहिं दव्वायरिया अ णिओइयव्वा उ।। **गुरुतत्त्वविनिश्चय,** १/१३.

२६. **जैनेन्द्रसिद्धान्त कोश,** भाग-१, क्षु० जिनेन्द्र वर्णी, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, १९७१, पृ० २४२.

२७. **वरांगचरितम्,** माणिकचन्द्र दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला, हीराबाग, बम्बई वी.नि.सं. २४६५, पृ० ७६.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

२८. उक्त व्रत तपःशील संयमादिधरो गणी।
नमस्य स गुरू साक्षात्तदन्यो न गुरुर्गणी।। — **पञ्चाध्यायी**, पं. राजमल्ल, श्री गणेश प्रसाद वर्णी जैन ग्रन्थमाला, वाराणसी, प्रथमावृत्ति, १९५०, २/६५६.

२९. वही, उत्तरार्ध, २/६४८.

३०. **वसुनन्दिश्रावकाचार**, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, ३८८-३८९.

३१. **भगवतीआराधना**, सखाराम दोसी, सोलापुर, १९३५, २७३-२७४.

३२. वही, ४०२.

३३. वही, उद्धृत— जैन वाङ्मय में शिक्षा के तत्त्व, डॉ० निशानन्द शर्मा, प्राकृत, जैनशास्त्र और अहिंसा शोध संस्थान, वैशाली, पृ० ४४.

३४. **गुरुतत्त्वविनिश्चय**, १/३.

३५. वही, गाथा-१५ की टिप्पणी

३६. एवं बहुगुरुपूजा, ववहारा बहुगुणा य णिच्छयओ।
एगम्मि पूइअम्मी, सव्वे ते पूइआ हुंति।। — वही, १/१७.

३७. ववहारो ववहारी, ववहरिअव्वं च एत्थ णायत्वं।
नाणी नाणं नेयं, नाणाम्मि परूविअम्मि जहा।। — वही, २/२.

३८. सद्धापोहासेवणभावेणं जस्स एस ववहारो।
सम्मं होइ परिणओ, सो सुगुरु होइ जगसरणं।। — वही, २/३३६.

३९. इण्हिं पुण वत्तव्वं, ण णाममित्तेण होइ गुरूभत्ती।
चउसु वि णिक्खेवेसुं, जं गेज्झो भावणिक्खेवो।। — वहीं, १/२.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

श्रमण

महावीर के सिद्धान्त : वर्तमान परिप्रेक्ष्य

*डॉ० श्रीरंजन सूरिदेव**

तीर्थङ्कर महावीर के सिद्धान्त समग्र मानवीय जीवन-दर्शन या जीवन-संस्कृति से अनुगुञ्जित हैं, जो मुख्यतया अहिंसा, अपरिग्रह और अनेकान्त की त्रयी पर आधृत हैं। महावीर के अनुसार दृष्टिनिपुणता तथा सभी प्राणियों के प्रति संयम ही अहिंसा है। दृष्टिनिपुणता का अर्थ है सतत् जागरूकता तथा संयम का अर्थ है — मन, वाणी और शरीर की क्रियाओं का नियमन। जीवन के स्तर पर जागरूकता का अर्थ तभी साकार होता है, जब उसकी परिणति संयम में हो। संयम का लक्ष्य तभी सिद्ध हो सकता है, जब उसका, जागरूकता द्वारा सतत् दिशानिर्देश होता रहे। लक्ष्यहीन और दिग्भ्रष्ट संयम अर्थहीन काय-क्लेशमात्र बनकर रह जाता है।

महावीर के सिद्धान्तों में प्रतिबिम्बित श्रमण-संस्कृति के सन्दर्भ में, ज्ञानदृष्टि के आधार पर जीवनचर्या का संयमन ही तात्त्विक संयम है। जीवनचर्या के संयमन के बिना मानव-जाति में एकता की प्रतिष्ठा तथा विलास-वैभव का नियन्त्रण सम्भव नहीं। एकता और समता, संयम और नियन्त्रण के अभाव की स्थिति में हिंसा की प्रवृत्ति को प्रोत्साहन मिलता है, जिससे जनता का दुःख बढ़ता है। इसलिए, महावीर ने दूसरे के दुःख को दूर करने की धर्म-वृत्ति को अहिंसा-धर्म कहा है।

महावीर के सिद्धान्तों से सम्पूर्ण मानव-जाति को एकता का सन्देश मिला है। उनका जाति से सन्दर्भित सिद्धान्त है कि जन्म से कोई किसी जाति का नहीं होता, कर्म से उसकी जाति का निर्धारण होता है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र — ये सब जन्मना नहीं, कर्मणा होते हैं। तात्पर्य यह कि कर्म की शुचिता और अशुचिता के आधार पर ही किसी मनुष्य की उच्चता या नीचता निर्भर होती है। उसमें जन्म से हीन या उच्च जैसा भाव नहीं है। प्रत्येक प्राणी, चाहे वह छोटा-सा कीड़ा अथवा

---

*. पूर्व उपनिदेशक, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अदना-सा आदमी ही क्यों न हो, आत्मसत्ता के स्तर पर समान है। उसमें अन्तर्निहित सम्भावनाएँ समान हैं।

महावीर के सिद्धान्तों में अनुध्वनित अपरिग्रह तथा अहिंसा के सन्देश मनुष्य की वर्तमान आर्थिक एवं सामाजिक आकांक्षाओं को ऊपर उठाने में अधिकाधिक उपयोगी सिद्ध हो सकते हैं। उन्होंने अपरिग्रह के व्रत पर इसलिए बल दिया कि वह जानते थे, कि आर्थिक असमानता और आवश्यक वस्तुओं का अनुचित संग्रह सामाजिक जीवन को विघटित करने वाला है। महावीर ने ऐसे समाजघाती परिग्रहवाद के विरोध में आवाज उठाई और अपरिग्रह के सामाजिक मूल्य की स्थापना की। 'परस्परोपग्रहो जीवानाम्', अर्थात् जीवों के प्रति परस्पर उपकार की भावना ही उनकी जीवन-साधना का लक्ष्य था और इसका प्रतिफलन उनके मूल्यवान् सिद्धान्तों में हुआ है।

महावीर का सिद्धान्त है कि सत्य अनन्तमुख है। अपने को ही एकान्तिक रूप से सही मानना और दूसरे को गलत समझना सत्य का अनादर करना है। किसी को सर्वथा गलत मानना वैचारिक स्तर पर हिंसा है; उसकी जीवन-सत्ता को अस्वीकार करना है। उनका कथन है कि सापेक्ष स्तर पर सत्य को उसके सन्दर्भों में देखा जाय और उन सन्दर्भों में अन्तर्निहित रूपों के द्वारा उसे सम्मानित किया जाय, उसके जीवन-मूल्य को स्वीकार किया जाय।

एकत्व में अनेकत्व तथा अनेकत्व में एकत्व, यानी उभयात्मक दृष्टि ही वस्तुसत्य के सही अभिज्ञान या सम्यग्ज्ञान में समर्थ होती है। हाथी के पैर, पूँछ, सूँड़ और कान को टटोलकर उसके एक-एक अवयव को ही हाथी मानने वाले जन्मान्ध लोगों का अभिप्राय मिथ्या होता है, पर हाथी के समस्त अवयवों के समुदाय को हाथी के रूप में पहचान करने वालों की अनेकान्त दृष्टि ही सही दृष्टि होती है।

महावीर के सिद्धान्तों में निहित अहिंसा, अपरिग्रह और अनेकान्त के तत्त्व निश्चय ही उनके द्वारा किये गये सामाजिक विकास के तत्त्वान्वेषण की युगान्तरकारी परिणति हैं। कोई भी आत्मसाधक महापुरुष लौकिक- सामाजिक व्यवस्था के आधारभूत तत्त्वों की उपेक्षा नहीं कर सकता। महावीर ने पद-दलित लोगों को सामाजिक सम्मान देकर उनमें आत्माभिमान जगाया। उन्होंने अपने सिद्धान्तों को बराबर अपने ही जीवन में उतारने का प्रयत्न किया। वह बराबर आत्मपर्यवेक्षण और आत्मनिरीक्षण के दौर से गुजरते रहे। उनकी कथनी और करनी, यानी कर्म और वाणी में एकता थी, इसलिए उनकी सैद्धान्तिक वैचारिकी उनके स्वयंभुक्त जीवनानुभव की ही मार्मिक अभिव्यक्ति है। वह 'जियो और जीने दो' सिद्धान्त के प्रवर्तक थे।

अहिंसा, अपरिग्रह और अनेकान्त की त्रयी में अहिंसा, सुमेरु की तरह प्रतिष्ठित है। महावीर का सम्पूर्ण धर्मचक्र मूलतः अहिंसा की धुरी पर ही घूमता है। अहिंसा की

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

साधना के लिए हिंसा का ज्ञान परम आवश्यक है। हिंसा के अनेक आयाम हैं, जिनके समानान्तर ही अहिंसा के आयाम अवस्थित हैं। शरीर के स्तर पर हिंसा प्राणातिपात है, जीवन-साधनों के स्तर पर होने वाली हिंसा मूर्च्छा या परिग्रह है और विचारों के स्तर पर होने वाली हिंसा एकान्तवादी आग्रह है। इसलिए, अहिंसा, अपरिग्रह और अनेकान्त के बीच कोई विभाजक रेखा नहीं खींची जा सकती। तीनों ही अहिंसा की मूलभूत प्राणसत्ता की अभिव्यक्तियाँ हैं। अहिंसा की समग्र साधना के रूप में ही अपरिग्रह और अनेकान्त समाहित हैं। इन्हें ही हम 'रत्नत्रय' भी कह सकते हैं। अनेकान्त सम्यग्ज्ञान का प्रतिरूप है, अहिंसा सम्यक् चारित्र है और अपरिग्रह सम्यग्दर्शन है। अहिंसा ही जीवन की सही दृष्टि है। वही जी पायेगा, जो जीने देगा। किसी की जीवन-सत्ता का अतिक्रमण हमारी अपनी ही जीवन-सत्ता का अतिक्रमण है।

निर्धनता, जातिवाद और सम्प्रदायवाद जैसी विषम और व्यापक समस्याओं के अतिरिक्त, व्यक्तिगत आचार-विचार की समस्याओं के भी आधुनिक परिप्रेक्ष्य में व्यावहारिक समाधान महावीर के सिद्धान्तों में प्रत्यक्ष रूप से उपलब्ध हैं। उन्होंने अहिंसा द्वारा सामाजिक क्रान्ति, अपरिग्रह द्वारा आर्थिक क्रान्ति तथा अनेकान्त द्वारा वैचारिक क्रान्ति का सूत्रपात किया। उनकी दृष्टि में वैचारिक मतभेद संघर्ष का कारण नहीं, अपितु उन्मुक्त मस्तिष्क की आवाज है। इसी तथ्य को प्रकट करने के लिए उन्होंने कहा कि वस्तु एकपक्षीय नहीं, अपितु अनेकपक्षीय है। प्रत्येक व्यक्ति सत्य के नये पक्ष को खोज कर समाज की समस्याओं का समाधान कर सकता है। निस्सन्देह, अनेकान्त समाज का गत्यात्मक सिद्धान्त है, जो जीवन में वैचारिक प्रगति का आह्वान करता है।उक्त नये पक्ष की खोज में 'स्याद्वाद' की भूमिका वाचिक माध्यम की होती है।

अपने को पहचाने बिना समाज की नाड़ी को पकड़ पाना सम्भव नहीं है। अतएव, महावीर का सम्पूर्ण जीवन आत्मसाधना के पश्चात् सामाजिक मूल्यों और प्रतिमानों की प्रतिष्ठापना में व्यतीत हुआ।

कुल मिलाकर, महावीर के सिद्धान्तों का सीधा उद्देश्य सामाजिक आन्दोलनों से सम्बद्ध है। धर्म के तीन मुख्य अंग होते हैं : दर्शन, कर्मकाण्ड और समाजनीति। आधुनिक सन्दर्भ में किसी भी धर्म की उपयोगिता का मूल्याङ्कन उसकी समाजनीति से किया जाता है। महावीर के सिद्धान्तों से स्पष्ट है कि जैनधर्म की उत्पत्ति तत्कालीन आडम्बरपूर्ण समाज-व्यवस्था के विरोध में एक सशक्त क्रान्ति के रूप में हुई थी। उन्होंने वर्ग-वैषम्य को मिटाकर समता की स्थापना, दार्शनिक मतवादों का समन्वय, धार्मिक आडम्बरों का बहिष्कार, पशुबलि का निषेध, अनावश्यक धनसञ्चय की वर्जना और अपनी सञ्चित राशि पर स्वामित्व की भावना का निराकरण, दलितों और नारियों का उत्थान आदि कार्य-प्रक्रियाओं द्वारा सामाजिक सुधार के आन्दोलन की गति को तीव्रता

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

और क्षिप्रता प्रदान की थी। इसलिए उनके, अहिंसा, अपरिग्रह और अनेकान्त के सिद्धान्त निश्चय ही आधुनिक परिप्रेक्ष्य में अतिशय उपयोगी और प्रासंगिक हैं।

वर्तमान दैनन्दिन जीवन-व्यवहार में भी महावीर का अपरिग्रह-सिद्धान्त अधिक प्रासंगिक है। अपरिग्रह के सिद्धान्त को चरितार्थ करने के लिए इच्छाओं को नियन्त्रित करना या परिग्रह को परिमित करना अत्यन्त आवश्यक है। परिमाण से अधिक की प्राप्ति का उपयोग अपने लिए नहीं, वरन् समाज के लिए होना चाहिए। यह दृष्टि जिस मनुष्य में विकसित हो जाती है, उसमें शेष सृष्टि के साथ सहानुभूति, प्रेम, एकता, समता और सेवा का भाव सहज ही उत्पन्न हो जाता है। इस भावना के उत्पन्न होने पर अहिंसा, अनासक्ति, वैचारिक उदारता और अपरिग्रह की साधना का विकास स्वतः होता रहता है।

धर्म के तहत, राष्ट्रीय स्तर पर अपरिग्रह का विचार आज के युग की अपरिहार्य आवश्यकता है। सभी धर्मों और दर्शनों में अपरिग्रह की वृत्ति को सच्ची शान्ति और अखण्ड आनन्द का मूल उत्स माना गया है। ज्ञातव्य है, वस्तुओं का संग्रह परिग्रह नहीं है, उन पर स्वामित्व परिग्रह है; विचारों का वैविध्य और बाहुल्य परिग्रह नहीं है, उनके प्रति कदाग्रह अथवा दुराग्रह ही परिग्रह है। सच तो यह है कि आग्रह से रहित परिग्रह जीवन और समाज के प्रति एक विकासवादी दृष्टिकोण है।

भगवान् महावीर के सिद्धान्त के अनुसार, मुक्तिलाभ की चेष्टा निःस्वार्थता और नैतिकता की आधारशिला है। हिंसा, परिग्रह और एकान्तवाद से मुक्त होकर समग्र रूप से निःस्वार्थ और नैतिक हो जाना ही जीवन का चरम लक्ष्य है। केवल अपने शरीर की रक्षा करना क्षुद्र व्यक्तित्व का लक्षण है। इसलिए व्यक्तित्व को क्षुद्रता से मुक्त कर अनन्त विस्तार में विलीन कर देना महावीर के सिद्धान्त का प्रमुख लक्ष्य है।

महावीर के सिद्धान्त से समसामयिक परिप्रेक्ष्य में हमें यह दृष्टि प्राप्त होती है कि जीवन का अतिक्रमण अर्थ के स्तर पर ही नहीं, भावना और विचार के स्तर पर भी होता है। अपने विचारों को दूसरों पर लादकर उन्हें तदनुकूल चलने के लिए बाध्य करना भयावह हिंसा है। है तो यह भावहिंसा, किन्तु इसका दुष्प्रभाव द्रव्यहिंसा से भी अधिक तीव्र होता है और भावहिंसा ही अन्ततोगत्वा द्रव्यहिंसा में बदल जाती है। विशेषतया धर्म के नाम पर इस प्रकार की हिंसा बहुधा होती है। भारतीय परमाणुशक्ति-परीक्षण भले ही आत्मरक्षा के नाम पर किया गया है, परन्तु यह मूलतः भावहिंसा के द्रव्यहिंसा में परिणमन का ही एक रूपान्तर है।

भारत में आज भी साम्प्रदायिक उन्माद यदा-कदा फूट पड़ता है। धर्म के नाम पर ही यह देश ख़ण्डित हुआ और घोर लज्जाजनक संहारलीलाएँ हुईं। कहना न होगा कि साम्प्रदायिक संकीर्णता वैचारिक असहिष्णुता को उभारता है। इस सन्दर्भ में महावीर

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

के अनेकान्तवाद का सिद्धान्त आधुनिक समाजवादी धर्मनिरपेक्षता की अवधारणा के निकटवर्ती होने के साथ ही वैयक्तिक तथा सामाजिक एवं राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय विचारों को स्वस्थ बनाने में ततोऽधिक प्रभावकारी है। वस्तुतः आज भी महावीर का सिद्धान्त भावी विनाश से हमारी रक्षा कर सकता है, इसलिए इसकी प्रासंगिकता निर्विवाद है।

•

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

श्रमण

शर्की-कालीन हिन्दी साहित्य के विकास में बनारसी दास का अवदान

*डॉ० राजदेव दुबे**

जौनपुर के शर्की-शासन-काल में हिन्दी साहित्य भी अत्यधिक फला-फूला। मध्यकालीन हिन्दी-साहित्य को भक्ति आन्दोलन ने सर्वाधिक प्रभावित किया। भक्ति आन्दोलन के प्रवर्तकों के अथक् प्रयास से हिन्दू एवं इस्लाम धर्म का सम्पर्क होने के परिणामस्वरूप मुस्लिम-शासकों के समय में भी हिन्दी-भाषा एवं साहित्य की अभूतपूर्व उन्नति तथा प्रचार-प्रसार एवं विकास हुआ। शर्की-कालीन कवियों में "विद्यापति ठाकुर" के पश्चात् कविवर "बनारसी दास" का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इनके सम्बन्ध में हम यह कह सकते हैं कि **"जो स्थान माला के प्रथम पुष्प का एवं गगनमण्डल में प्रथम नक्षत्र का होता है, वही स्थान शर्की-कालीन हिन्दी कवियों में बनारसी दास का है।"**

शर्की-शासक अपनी हिन्दू-प्रजा एवं हिन्दी साहित्य के कवियों के प्रति भी समान रूप से सहिष्णु थे। हिन्दू-मुस्लिम सांस्कृतिक वातावरण ने शर्की-शासन में हिन्दी साहित्य की उन्नति में पर्याप्त योगदान दिया। सन्त कवि कबीरदास, मिथिला के प्रसिद्ध कवि विद्यापति ठाकुर, बनारसीदास आदि कवियों का शर्की-शासन-काल में हिन्दी साहित्य के विकास में महत्त्वपूर्ण प्रेरक-भूमिका रही है।

बनारसी दास के पूर्वज ग्वालियर के निवासी थे।[१] आपके दादा मूल्यदास, जिनको व्यापार का बड़ा शौक था और अपने समय के प्रसिद्ध व्यापारी बन गये थे। संवत् १६०८ में उनके पुत्र के रूप में खरगसेन का ग्वालियर की भूमि में जन्म हुआ। अभी उनकी अवस्था चार वर्ष की थी कि मूल्यदास का देहान्त हो गया। शर्की-बादशाहों के शासन-काल में जौनपुर की ख्याति ग्वालियर तक पहुँची हुई थी और इब्राहीम शाह-शर्की

---

*. प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति और पुरातत्त्व विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी-२२१००५

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ने ग्वालियर पर आक्रमण करके उसके अन्यान्य परगनों को अपने अधिकार में कर लिया था।

मूल्यदास के देहान्त के पश्चात् खरगसेन का ग्वालियर में रहना दूभर हो गया। चूँकि जौनपुर के विंद्या एवं कला की ख्याति इनके कानों में पड़ी हुई थी, इसलिए माता और पुत्र ने असहाय होकर पूर्व देश में जौनपुर की ओर प्रस्थान किया, जहाँ पर उसके मातामह मदनसेन निचौलिया पहले से आकर बस गये थे। बनारसीदास के पिता खरगसेन का सम्पूर्ण जीवन इसी पवित्र नगर में बीता और यहीं मुहल्ला रासमण्डल में गोमती नदी के रम्य-तट पर बनारसीदास का जन्म हुआ। यहीं की मिट्टी में खेलकर, गोमती नदी की पवित्र धारा में स्नान कर, प्रसिद्ध कवि बनारसीदास का व्यक्तित्व हिन्दी साहित्य के महत्त्वपूर्ण सेवा के कारण निखर आया।[२]

बनारसीदास एक उच्चकोटि के हिन्दी के कवि हुए। आपकी काव्यविद्या ने शर्की-काल के सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक एवं सांस्कृतिक सभी आयामों को विशेष रूप से रेखांकित किया है। इन्होंने अपनी रचना **अर्द्धकथानक** में जौनपुर के आदर्शों, मूल्यों, प्रतिमानों एवं गौरव को रेखांकित किया है।[३] बनारसीदास का कथन है कि गोमती के रम्य-तट पर बसे हुए इस नगर में चारों वर्णों (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र) के लोग रहते हैं। जहाँ अन्यान्य गृह उद्यान हैं। यहाँ अनेक जातियाँ निवास करती हैं। इन जातियों में दर्जी, तमोली, रंगरेज, ग्वाले, तेली, धोबी, धुनिया, हलवाई, कहार, कलाल, काछी, कुम्भकार, माली, कुन्दीगर, कागदी, किसान, बुनकर, मोती बीधने वाले, बारी, लखेरे, ठठेरे, भड़भूजे, सुनार, नाई, लोहार, धीवर, पदुवा एवं चमार आदि प्रमुख हैं। नगर, मठ, मण्डप, प्रासादों, पताकाओं, तन्दुओं आदि से युक्त सतखण्डे घरों से भरा है। नगर के चतुर्दिक बावन सरायें, बावन बाजार तथा बावन मण्डियाँ हैं।[४] "जौनपुर गजेटियर" में भी प्रायः इन्हीं हिन्दू जातियों का उल्लेख मिलता है।[५]

कविवर बनारसीदास ने "भर" एवं "सुइरी" जाति का उल्लेख नहीं किया है। जौनपुर-जनपद के अन्यान्य पुरातात्त्विक-स्थलों के विषय में जनश्रुतियाँ हैं कि उन पर "भर" एवं "सुइरी" जाति के लोगों का प्रारम्भ में अधिकार था। फिरोजशाह तुगलक के जौनपुर आबाद करने से पूर्व इन स्थानों पर सम्भवतः ऋषि और साधु रहते थे। ठाकुर लोग भी आकर आबाद होते रहे, परन्तु किसी शासन का कोई संकेत नहीं मिलता, इसका मूल कारण यह है कि जौनपुर और उसके निकटवर्ती स्थान मिर्जापुर और बनारस में उस समय भरों एवं सुइरियों का अधिकार था। गहडवाल राजपूतों ने अपने शासन की नींव दृढ़ करने के बाद उन प्राचीन निवासियों को इन स्थानों से निकालना प्रारम्भ कर दिया, परन्तु सफलता न प्राप्त हो सकी। ये लोग दुर्ग बनाकर शासन करते थे। सोइरियों का दुर्ग चन्दवक में था तथा बनारस की सीमा तक उनका अधिकार था। चन्दवक

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

में इस समय भी एक बड़ा भीटा है। भर जाति जौनपुर में अधिक संख्या में आबाद थी, जिनको अन्त में मुसलमानों और राजपूतों ने नष्ट कर दिया। इनका एक बड़ा दुर्ग सुल्तानपुर में भी था। कन्नौज के शासकों के काल में छोटी-छोटी जातियाँ भर, मुसहर, सोइरी मिर्जापुर के दक्षिण भाग तथा इसके निकट अपना अधिकार जमाये हुए थीं। ये लोग बुन्देलखण्ड और बनारस के निकट के रहने वाले थे।[६] आज भी भर जाति जौनपुर के अन्यान्य क्षेत्रों में अधिक संख्या में निवास करती हैं; किन्तु सुइरी जाति के सन्दर्भ में कोई सूचना अब नहीं मिलती है। जलालपुर, ज़ौनपुर जनपद तथा वाराणसी के सीमा पर बसे एक गाँव का नाम आज भी 'सोइरी रामपुर' है।

बनारसीदास अपने समय के एक लोकप्रिय कवि थे। उस समय न्यायालयों एवं राजदरबारों की भाषा 'फारसी' थी; किन्तु जनसामान्य जिस भाषा का प्रयोग करते थे, वह यही भाषा है जिसे कविवर बनारसी दास ने अपने काव्य रचना में प्रयोग किया है। इनकी भाषा सरल, सुबोध एवं जनसाधारण की थी। इससे इनकी रचनाओं की समाज में विशेष लोकप्रियता रही है। भाषा, भाव-शैली एवं छन्द रचना के आधार पर बनारसी दास अपने समय के प्रतिनिधि कवि थे। उनकी भाषा में चमत्कार, लालित्य, ओज आदि गुण पूर्णरूप से परिलक्षित होते हैं।

बनारसीदास ने अपनी रचनाओं से शर्की-कालीन-हिन्दी साहित्य को विशेष समृद्ध बनाया। इनकी चार प्रमुख कृतियाँ हैं — **"बनारसी विलास"**, **"नाटक समयसार"**, **"अर्द्ध-कथानक"** **"नाममालाकोश"**। इन रचनाओं में **"अर्थकथानक"** विशेष महत्त्वपूर्ण काव्य रचना है। इस कृति में आपने बाल्यकाल पर बड़े ही स्वाभाविक एवं मार्मिक ढंग से प्रकाश डाला है। यह कृति हिन्दी साहित्य का अनमोल रत्न है। नाटक रचना में भी बनारसीदास का महत्त्वपूर्ण स्थान माना जाता है। इन्होंने अपने नाटकों में नाटक के सभी तत्त्वों का खुलकर प्रयोग किया है।

बादशाह अकबर का अधिकार शर्की-राज्य-जौनपुर पर भी था। उसने गोमदी नदी पर शाही-पुल का निर्माण भी कराया था, जो मुगल वास्तु-कला का अप्रतिम उदाहरण है। अकबर कीं मृत्यु की सूचना जब जौनपुर के नागरिकों को मिली तो, लोगों ने विशेष शोक मनाया। बनारसीदास ने इस शोकाकुल-समाज का चरित-चित्रण इस प्रकार किया है —

इस ही बीच नगरमैं सोर, भयो उदंगल चारिहु ओर।
घर घर दर दर दिये कपाट, हरवानी नहीं बैठे हाट।
भले बस्त्र उर भूसण भले, ते तब गाड़े धरती तले।
घर घर सबनि विसाहे सस्त्र, लोगन्ह पहिरे मोटे बस्त्र।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ओढ़े कंबल अथवा खेश, नारिह पहिरे मोटे बेस।
ऊँच-नीच कोउ न पहिचान, धनी दरिद्र भये समान।
चोरि-धारि दीसै कहूं नाहि, यों ही अपभय लोग डराहीं।

इस प्रकार बनारसीदास ने शोकाकुल-समाज का चरित-चित्रण बड़े ही मार्मिक ढंग से किया है। इनकी काव्य-शैली, भाषा, भाव आदि की दृष्टि से विशेष महत्त्वपूर्ण है। इनकी काव्य रचना की भाषा जनसाधारण होने के कारण विशेष लोकप्रिय रही है। भाषा में जटिलता एवं दुरूहता नहीं आने पायी है।

बनारसीदास की भाषा पूर्वी है। समाज में "फारसी" एवं "अरबी" शब्दों का प्रचलन सामान्य हो गया था। इनकी रचनाओं में यत्र-तत्र प्रयोग "अरबी" एवं "फारसी" शब्दों का देखने को मिलता है। यथा — 'दर्द' एवं 'शोर' आदि। कविवर बनारसीदास की मृत्यु मुगल-शासक-सम्राट् जहाँगीर के शासन-काल में जौनपुर में ही हुई थी।[७] इनकी मृत्यु से जौनपुर के नगरवासी एवं सामान्यजन बड़े दुःखी हुए।

मध्यकालीन-शर्की-शासकों ने हिन्दू एवं मुस्लिम कवियों, लेखकों एवं महत्त्वपूर्ण साहित्यकारों को राजकीय संरक्षण प्रदान कर जौनपुर के साहित्यिक गौरव को प्रतिष्ठित किया। यह परम्परा मुगलकाल में भी जारी रही। इन साहित्यकारों एवं विद्वानों के महत्त्वपूर्ण साहित्यिक अवदान से जौनपुर मध्यकाल में "शिराज-ए-हिन्द"[८] कहलाया और इसमें बनारसी दास की भी महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है।

सन्दर्भ-सूची

१. **अर्द्ध कथानक**, संपा० श्री नाथूराम प्रेमी, तृतीय संस्करण, जयपुर, १९८७ ई०, "अर्द्ध-कथानक की भाषा", पृ० २४.

२. सैयद एकबाल अहमद, **शर्की-राज्य जौनपुर का इतिहास**, जौनपुर, १९६८, पृ० ५२१.

३. पूरब देश जौनपुर गांउ
बसै गोमती तीर सुठांऊ
तहां गोमती इहि विधि बहै,
ज्यों देखी त्यों कविजन कहै।
प्रथम हि दक्खन मुख बंही,
पूरब मुख परबाह

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

बहुरों उत्तरमुख बही
गोवै नदी अथाह ।।२५।।

४. उपरिवत्

५. एच०आर० नेविल, **जौनपुर गजेटियर**।

६. सैयद एकबाल अहमद, वही, पृ० ९०-९९;
गजेटियर मीरजापुर, (इलाहाबाद, १९०२), पृ० २०२, २०७.

७. विस्तार के लिए द्रष्टव्य — त्रिपुरारी भाष्कर, **जौनपुर का इतिहास**, १९६०, **साहित्यधर्मिता**, जौनपुर विशेषांक, अप्रैल १९९०, पृ० ७५-७७.

८. शिराज ईरान का एक ऐतिहासिक, सुन्दर एवं समृद्धशाली नगर होने के साथ ही शिक्षा का प्रधान केन्द्र भी रहा है और शर्की-काल में जौनपुर की भी यही स्थिति रही।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्राचीन भारत के प्रमुख तीर्थस्थल : बौद्ध और जैनधर्म के विशेष सन्दर्भ में

(शोधप्रबन्ध-सार)

राजेश कुमार

प्राचीन भारत के प्रमुख बौद्ध और जैन तीर्थस्थलों का तथ्यपरक विश्लेषण इस शोध की मूल समस्या रही है। इस सन्दर्भ में यह उल्लेखनीय है कि भारतीय संस्कृति के समन्वयात्मक स्वरूप में सनातन धर्म और उसकी शृङ्खला में विभिन्न धर्मों की उत्पत्ति, प्रसार और प्रभाव की स्थितियाँ दृष्टिगत होती हैं। सनातन धर्म की प्रकार्यात्मकता तीर्थस्थलों के माध्यम से संचालित होती रही हैं। धार्मिक प्रतिबद्धताओं को स्थापित एवं विकसित करने वाली प्रथाओं तथा परम्पराओं का अनुपालन उत्तरवर्ती मान्यताओं में भी दिखलाई देना अस्वाभाविक नहीं कहा जा सकता। सनातनधर्म के प्रतीकों की भाँति निहित आधार की वैचारिकी में जिन नये धर्मों का प्रादुर्भाव हुआ उनमें भी मत विशेष के संस्थापक की स्मृति को बनाये रखने वाले प्रतीक नयी वैचारिकी के अभिकेन्द्र बन गये। इस प्रकार मतों की भिन्नता और उनके समर्थकों के प्रतिबद्धता ने नये तीर्थों का सृजन किया। इस परिप्रेक्ष्य में इस शोध के लिये आवश्यक तथ्य संगृहीत एवं विवेचित किये गये हैं।

परम्परागत समाज के बहुआयामी धार्मिक, सामाजिक एवं राजनैतिक संस्कृतियाँ तीर्थस्थलों से नियोजित एवं नियन्त्रित होती रही हैं। यथार्थ रूप में तीर्थस्थल धर्म विशेष से सम्बन्धित कुछ विशिष्ट घटनाओं के प्रतीकात्मक स्वरूप हैं। तीर्थ प्राचीन सामाजिक व्यवस्था के लिये धर्म और संस्कृति के उद्गम केन्द्र के रूप में कार्य करते रहे हैं। धार्मिक प्रस्थापनाओं के सम्बन्ध में चिन्तन के अभिकेन्द्र इन स्थलों का उपयोग एक विशिष्ट जीवन-दर्शन और सांस्कृतिक उत्कर्ष हेतु भी किया जाता था।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तीर्थस्थलों की महत्ता के परिप्रेक्ष्य में विभिन्न अध्ययन किये गये हैं। उनसे यह स्पष्ट होता है कि तीर्थस्थल धार्मिक कथानकों के संवाहक और प्रमाण हैं। ये धर्म के सृजन शक्ति में विशिष्ट इतिहास के साक्षी हैं। इतिहास के निर्माण में तीर्थस्थलों की भूमिका प्रधान रही है। समाज के प्रत्येक पक्ष को प्रभावित करने में तीर्थस्थल महत्त्वपूर्ण रहे हैं। विश्व के सभी धर्मों में उसके प्रतिस्थापक, अनुयायी एवं प्रचारक के जन्म-मृत्यु, ज्ञान-क्षेत्र, उपलब्धि एवं परिभ्रमण क्षेत्र आदि के आधार पर कुछ निश्चित स्थानों को पवित्र स्थल के रूप में स्वीकृति प्रदान करने की परम्परा पायी जाती है। इन पवित्र स्थलों से धार्मिक मान्यताओं की निरन्तरता संयुक्त कर दी जाती है। जैन एवं बौद्ध परम्परा में उपासकों का उद्देश्य तीर्थ विशेष के महत्त्व को स्पष्ट करना प्रमुख रहा है और इस दृष्टि से विभिन्न ग्रन्थ भी रचे गये हैं। कुछ ग्रन्थ अलग-अलग तीर्थों पर स्वतन्त्र रूप से सम्पादित हैं और उनमें से कुछ में निष्पक्षता भी निहित है। लेकिन किसी भी ग्रन्थ में प्राचीन भारत के बौद्ध और जैन तीर्थों की भौगोलिक स्थिति, उनकी प्राचीनता, उनसे सम्बन्धित कथानक, जीर्णोद्धार, इनसे सम्बन्धित स्थापत्य और कला तथा अन्य सम्बन्धित घटनाएँ नहीं मिलतीं। अत: इस शोध के अन्तर्गत उपर्युक्त सभी तथ्यों को ध्यान में रखा गया है।

प्रमुख बौद्ध तीर्थस्थलों तथा स्थापत्य और कला से सम्बन्धित विवरणों से उनकी प्राचीन परम्पराओं और उनसे सम्बन्धित घटनाक्रमों का विवरण प्रदान करने वाले प्रमुख ग्रन्थों में डॉ० प्रियसेन सिंह जी द्वारा लिखित **भारत के प्रमुख बौद्ध तीर्थस्थल**, **भिक्षु धर्मरक्षित का सारनाथदिग्दर्शन**, श्री वासुदेव उपाध्याय द्वारा लिखित **प्राचीन भारतीय स्तूप, गुहा एवं मन्दिर**, श्री बी०एन०चौधरी कृत **बुद्धिस्ट सेण्टर इन ऐंश्येण्ट इण्डिया**, श्री डी०सी० अहिर द्वारा रचित **बुद्धिस्ट श्राइन्स इन इण्डिया**, श्री एस० बील का **सम रिमार्क्स् द ग्रेट टोप एट साँची**, श्री ए०के० कुमारस्वामी की **अर्ली इण्डियन आर्किटेक्चर**, श्री दयाराम साहनी की **गाइड टू दी बुद्धिस्ट रूइंस ऑफ सारनाथ** आदि महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ हैं। वहीं जैन तीर्थस्थल तथा स्थापत्य एवं कला से सम्बन्धित विवरण प्रदान करने वाले प्रमुख ग्रन्थों में — मुनिश्री न्यायविजय जी द्वारा लिखित **जैन तीर्थों का इतिहास** (गुजराती), पं० अम्बालाल प्रेमचन्द शाह द्वारा लिखित और आनन्दजी कल्याणजी की पेढ़ी, अहमदाबाद से प्रकाशित **जैनतीर्थसर्वसंग्रह**, श्री जगदीशचन्द्र जैन द्वारा लिखित **भारत के प्राचीन जैन तीर्थ**, श्री विद्याधर जोहरापुरकर द्वारा सम्पादित **तीर्थवन्दनसंग्रह**, श्री बलभद्र जैन द्वारा रचित **भारत के दिगम्बर जैन तीर्थ**, श्री महावीर कल्याण संघ द्वारा प्रकाशित **तीर्थदर्शन** तथा जैन तीर्थों के बारे में सबसे ज्यादा जानकारी प्रदान करने वाली डॉ० शिवप्रसाद द्वारा लिखित **जैन तीर्थों का ऐतिहासिक अध्ययन** साथ ही अमलानन्द घोष की **जैन कला एवं स्थापत्य**, देवला मित्रा की **मथुरा : प्राचीन इतिहास, जैन कला एवं स्थापत्य** इत्यादि प्रमुख ग्रन्थ हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

बौद्ध परम्परा के अन्तर्गत गौतम बुद्ध के जीवन से सम्बन्धित महत्त्वपूर्ण स्थल तीर्थ के रूप में बौद्ध धर्मावलम्बियों के लिए प्रतिस्थापित हैं, **महापरिनिर्वाणसूत्र** के अनुसार गौतम बुद्ध ने अपने जीवन से सम्बन्धित चार महत्त्वपूर्ण स्थानों की यात्रा को अपने अनुयायियों के लिए अत्यन्त पुण्यकारी बताया है। इन चार स्थलों में क्रमशः लुम्बिनी-बुद्ध के जन्म-बोधगया-उनके बोधि-प्राप्ति सारनाथ-बुद्ध द्वारा दिये गये प्रथम धर्मोपदेश और कुशीनगर उनके परिनिर्वाण से सम्बन्धित हैं, इसके अतिरिक्त श्रावस्ती, राजगिर, वैशाली और सांकाश्य जैसे स्थल भी बुद्ध के जीवन की विभिन्न घटनाओं से सम्बन्धित होने के कारण ख्याति प्राप्त हैं।

जैन धर्म के अनुसार जिसके द्वारा पार हुआ जाता है, वह तीर्थ है। तात्पर्य यह है कि जैन परम्परा में वे सभी माध्यम तीर्थ हैं, जो आध्यात्मिक सत्ता की उपलब्धि सुनिश्चित करते हैं। जैन धर्म के अन्तर्गत तीर्थ शब्द के लाक्षणिक और आध्यात्मिक अर्थ की अलग-अलग मान्यता है। लाक्षणिक दृष्टि से तीर्थ ही मोक्ष का मार्ग है। आध्यात्मिक दृष्टि से तीर्थ वह स्थल है, जो आध्यात्मिक शक्तियों के प्रतिस्थापक केन्द्र-बिन्दु को इंगित करता है। जैनधर्म के अन्तर्गत लौकिक तीर्थस्थलों की अपेक्षा आध्यात्मिक तीर्थ अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। वस्तुतः जैन धर्मावलम्बी तीर्थ को अति व्यापक रूप में स्वीकार करते हैं।

शोधप्रविधि मूलतः ऐतिहासिक तथ्यों के विवेचन हेतु विवरणमूलक है। प्राथमिक तथ्यों को युक्तिसंगत रूप से अलग-अलग कालखण्डों में विश्लेषित करने के साथ-साथ तीर्थस्थलों की महत्ता और उनकी प्रकृति के अनुरूप प्रस्तुत किया गया है। ऐसे तथ्यों पर विशेष बल दिया गया है, जो स्पष्टतः ऐतिहासिक महत्त्व के रूप में प्रस्थापित हैं। जैन एवं बौद्धधर्म से सम्बन्धित मन्दिरों, स्तूपों, गुहाओं और उनसे सम्बन्धित विशेष व्यक्तियों तथा घटनाओं आदि का उल्लेख किया गया है। प्राचीन ग्रन्थों के साथ-साथ पुरातात्विक अवशेषों और समकालीन प्रमाणों का भी इस शोध-प्रबन्ध में सदुपयोग किया गया है। तीर्थों के इतिहास के स्रोत के रूप में साहित्यिक और पुरातात्विक साक्ष्यों के रूप में आधारभूत प्रचुर सामग्री शोध के लिए उपयोगी रही है।

जैन तीर्थों के सन्दर्भ में श्वेताम्बर और दिगम्बर परम्परा के विभिन्न तीर्थों पर आधुनिक गवेषणात्मक ग्रन्थों के अभाव को दृष्टिगत रखते हुए विभिन्न ग्रन्थों का प्रणयन किया गया है, जो न केवल जैनतीर्थ के विषय में अलग-अलग तथ्य प्रदान करते हैं, अपितु जैन साहित्यकारों की तीर्थ-दृष्टि को भी प्रस्तुत करते हैं। जहाँ एक ओर जैन परम्परा में २४ तीर्थङ्करों के कारण तीर्थों की बहुलता है वहीं बौद्धधर्म के गौतम बुद्ध ही प्रधान धर्म प्रतिस्थापक रहे हैं। इस सन्दर्भ में यह भी उल्लेखनीय है कि आधुनिक इतिहासकारों ने जैनधर्म के २४ तीर्थङ्करों में अन्तिम दो तीर्थङ्कर पार्श्वनाथ और महावीर

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

की ऐतिहासिकता को ही स्वीकार किया है। लेकिन धार्मिक प्रतिमान्यताओं में विभिन्न क्षेत्र तीर्थों के रूप में प्रतिस्थापित हुए हैं और उन्हें पार्श्वनाथ और महावीर के अतिरिक्त अन्य तीर्थङ्करों से भी सम्बद्ध किया गया है। जैन परम्परा के अन्तर्गत सभी तीर्थङ्करों के जन्म, विहार, ज्ञान-प्राप्ति और निर्वाण आदि स्थलों के सम्बन्ध में विवरण निहित है। इस प्रकार जैन समाज में तीर्थों की ब्रहुतायत संख्या स्वीकार की गयी है। इनके सम्बन्ध में ऐतिहासिक सामग्री भी अत्यधिक है। बौद्धधर्म में गौतम बुद्ध के उपदेशों तथा उनके समकालीन राजवंशों के इतिहास से विपुल सामग्री प्राप्त होती है, जो तत्कालीन बौद्ध परम्परा और उनके द्वारा स्थापित तीर्थों के विषय में विवरण प्रदान करते हैं।

शोध के अन्तर्गत तीर्थ के अवधारणात्मक स्पष्टीकरण के साथ-साथ प्राचीन भारतीय समाज के धार्मिक स्वरूप एवम् उसके विकास-क्रम में विभिन्न घटनाओं एवं धर्मों की सृजनात्मकता के ऐतिहासिक पक्ष का विवरण दिया गया है। वैदिक संस्कृति के उत्तरकालीन समाज में ब्राह्मण संस्कृति के अन्तर्द्वन्द्व में बौद्ध एवं जैन धर्मों के भिन्न दर्शनों की स्थापना और क्षेत्र विशेष में राजधर्म के रूप में उनकी स्वीकृति और तदन्तर उनके विकास तथा प्रचार-प्रसार से सम्बन्धित ऐतिहासिक तथ्यों का विवेचन किया गया है।

प्रमुख प्राचीन बौद्ध तीर्थस्थलों — लुम्बिनी, बोधगया, सारनाथ और कुशीनगर— जो क्रमशः गौतम बुद्ध के जन्म, ज्ञान, प्रथम दीक्षा और महापरिनिर्वाण से सम्बन्धित हैं। इनके अतिरिक्त बौद्ध-दर्शन के चार प्रमुख सिद्धान्तों के उद्भवस्थल श्रावस्ती, सांकाश्य, राजगिर और वैशाली को भी प्रधान तीर्थस्थल स्वीकार किया गया है। पालि साहित्य के अन्तर्गत उपर्युक्त आठ प्रमुख बौद्ध तीर्थस्थलों का उल्लेख किया गया है। साथ ही प्राचीन भारत में बौद्धधर्म से सम्बन्धित अन्य पवित्र क्षेत्रों में नालन्दा, साँची, भरहुत, अमरावती, तक्षशिला, अजन्ता, बाघ, कौशाम्बी, धर्मशाला आदि का संक्षिप्त विवरण भी इस शोधप्रबन्ध के अन्तर्गत दिया गया है।

प्रमुख प्राचीन जैन-तीर्थों में उत्तर भारत, पूर्व भारत, मध्य भारत और पश्चिम भारत के साथ-साथ दक्षिण भारत में प्रतिस्थापित विभिन्न तीर्थों का विवेचन किया गया है। शोध के अन्तर्गत १०वीं शताब्दी तक तीर्थस्थल के रूप में प्रतिस्थापित तीर्थों को ही प्राचीन तीर्थ के रूप में स्वीकार किया गया है। इस दृष्टि में रखते हुए उत्तर भारत के अयोध्या, अहिच्छत्रा, काम्पिल्यपुर, कौशाम्बी, चन्द्रावती, प्रयाग, मथुरा, रत्नवाहपुर, वाराणसी, विन्ध्याचल, श्रावस्ती, शैरीपुर एवं हस्तिनापुर; पूर्व भारत के बिहार, बंगाल और उड़ीसा में स्थापित तीर्थ-क्षेत्रों यथा कुण्डग्राम, चम्पापुरी, पाटलिपुत्र, पावापुरी, मिथिलापुरी, वैभारगिरि, सम्मेदशिखर, पुण्ड्रपर्वत, कलिंग देश, मध्य भारत के

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

विदिशा, चन्देरी, दशपुर, अवन्ति, कुण्डुगेश्वर, पश्चिम भारत के राजस्थान और गुजरात क्षेत्र में अर्बुदगिरि, उपकेशपुर, करहेटक, नन्दिवर्धन आदि और दक्षिण भारत के महाराष्ट्र, आन्ध्र प्रदेश, कर्नाटक आदि क्षेत्रों में स्थापित तीर्थों का विवरण दिया गया है। उत्तर भारत में अयोध्या को ऋषभदेव, अजितनाथ, अभिनन्दन, सुमति और अनन्त नामक पाँच तीर्थङ्करों के जन्म एवं प्रसिद्धि क्षेत्र के कारण अत्यन्त महत्त्वपूर्ण जैन-तीर्थस्थल माना गया है।

ऐसा नहीं कि केवल तीर्थङ्करों के जन्म, दीक्षा या कर्मक्षेत्र ही तीर्थस्थल के रूप में विख्यात हैं, कुछ ऐसे भी क्षेत्र हैं, जो तीर्थङ्करों के अतिरिक्त जैन मुनियों के कारण सिद्ध क्षेत्र के रूप में स्वीकृत हैं। पाटलिपुत्र इसी प्रकार का एक प्रसिद्ध सिद्ध क्षेत्र है जहाँ श्वेताम्बर और दिगम्बर सम्प्रदाय के मन्दिर हैं। इसके अतिरिक्त उड़ीसा में कटक, भुवनेश्वर, खण्डगिरि, उदयगिरि आदि क्षेत्रों में जैन मुनियों के प्राचीन मन्दिर, योग साधना स्थलों को भी पवित्र क्षेत्र माना जाता है। इसी प्रकार मध्य प्रदेश के जैन तीर्थ क्षेत्रों में पावागिरि, सिद्धवरकूट, चूलागिरि आदि स्थल जहाँ किसी भी तीर्थङ्कर का एक भी कल्याणक नहीं हुआ है लेकिन जैन मुनियों के निर्वाण एवं ज्ञान कल्याणक क्षेत्र के कारण प्रसिद्ध तीर्थ क्षेत्र माने जाते हैं।

उपर्युक्त तथ्यों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि तीर्थङ्करों के जन्म, दीक्षा आदि समस्त प्रमुख घटनाओं से सम्बन्धित स्थलों को तीर्थ क्षेत्रों के रूप में स्वीकृत किया गया है। साथ ही जैन धर्मावलम्बियों ने जैन मुनियों के योग-साधना, दीक्षा, कल्याणक और मोक्ष आदि से सम्बन्धित स्थलों को भी तीर्थस्थल के रूप में प्रतिस्थापित कर लिया है।

बौद्ध स्थापत्य एवं कला के सम्बन्ध में इस शोध-प्रबन्ध में विस्तृत विवरण दिया गया है। बौद्धधर्म के स्थापत्य और कला के सन्दर्भ में अशोककालीन कला प्रतीकों से विस्तृत विवरण प्राप्त होता है। पत्थरों पर अभिलेखों की खुदाई, स्तूपों की निर्माण शैली, बौद्ध विहारों, मन्दिरों और गुफाओं में प्रतिस्थापित मूर्तियाँ, भित्ति चित्र और पत्थरों के विशाल स्तम्भ कलात्मक दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। बौद्धधर्म के प्रति अशोक का अनुराग उसकी कलात्मक सृजनात्मकता से भी प्रतीत होता है। उसने अपने साम्राज्य में विभिन्न स्तूपों का निर्माण कराया। सिंहों से युक्त स्तम्भ-शीर्ष, स्तम्भों पर किया गया पालिश और उन पर उत्कीर्ण अभिलेख तत्कालीन कला की विशिष्टता को इंगित करते हैं। गया, साँची और सारनाथ जैसे प्रसिद्ध तीर्थस्थलों पर निर्मित बौद्ध विहार और मन्दिर बौद्ध कला के सृजनात्मकता और स्थापत्य शैली की विशिष्टता को प्रतिबिम्बित करते हैं। स्तूपों के मध्य में बनायी गयी मेधि और स्तूपों की निर्माण शैली प्राचीन कलात्मकता को इंगित करती है। अजन्ता, कार्ले, पभोसा, उदयगिरि, खण्डगिरि आदि क्षेत्रों में बौद्ध कला के उत्कृष्ट अवशेष प्राप्त हुए हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जैन स्थापत्य एवं कला के अन्तर्गत ऐतिहासिक दृष्टि से जैनधर्म के प्राचीन तीर्थस्थलों से प्राप्त मन्दिरों, मूर्तियों, शिलालेखों, भित्ति चित्रों आदि की कला और स्थापत्य शैली का भी संक्षिप्त विवेचन किया गया है। धार्मिक क्षेत्रों में स्थापत्य एवं कला की विशिष्ट शैली का विश्लेषण तत्कालीन समाज में धर्म के प्रति समर्पण एवं सामाजिक व्यवस्था की विशिष्टता को इंगित करता है।

स्थापत्य एवं कला के आधार पर जैनधर्म के विषय में यह कहा जा सकता है कि जैन धर्मावलम्बी प्रतिमा निर्माण के क्षेत्र में बौद्ध और ब्राह्मण धर्म की अपेक्षा उन्नत स्थिति में थे। ऐसा प्रतीत होता है कि महावीर के समय में यक्ष मूर्तियों की भाँति तीर्थङ्करों एवं मुनियों की मूर्ति बनाने की प्रथा प्रचलन में नहीं थी, जो प्राचीन जैन प्रतिमाएँ प्राप्त हुई हैं, वे बौद्ध एवं ब्राह्मण धर्म की प्रतिमाओं से प्राचीन हैं। अलग-अलग क्षेत्रों में जैन मूर्तिकला उन क्षेत्रों की तत्कालीन शैली से प्रभावित प्रतीत होती है। परवर्ती मूर्तियों एवं अभिलेखों के आधार पर २४ जैन तीर्थङ्करों के वर्ण, चिह्न, अनुचर, यक्ष एवं यक्षियों, जन्म तथा निर्वाण के सम्बन्ध में विस्तृत सूचनाएँ प्राप्त होती हैं। जैन शिल्पकारों एवं कलाकारों के स्थापत्य पर प्रकृति से तादात्म्य स्थापित कर निर्माण करने की प्रवृत्ति परिलक्षित होती है।

बौद्ध एवं जैनधर्म के सम्बन्ध में विभिन्न अध्ययन सामग्रियों का गहन विवेचन करने पर यह पाया गया कि उनमें काल-क्रम की अनियमितता, उपलब्ध तथ्यों में सम्बन्धहीनता तथा तुलनात्मक मूल्याङ्कन का अभाव निहित है। अतएव यह आवश्यक है कि भारतीय संस्कृति के इन दो विशिष्ट धर्मों के उन प्राचीन तीर्थस्थलों का अध्ययन किया जाए जिन्होंने समकालीन भारतीय समाज और संस्कृति के साथ-साथ विश्व की अन्य संस्कृतियों को भी प्रभावित और परिमार्जित किया है।

●

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जैन दर्शन में सृष्टि की अवधारणा

*अतुल कुमार प्रसाद सिंह**

मनुष्य अपने अस्तित्व में आने के प्रारम्भिक काल से ही ब्रह्माण्ड की रचना के विषय में जिज्ञासु रहा है। इस विराट और अनन्त लोक की सृष्टि कैसे हुई, कब हुई इत्यादि प्रश्न आदिकाल से ही इसके मस्तिष्क में चक्कर काटते रहे हैं। परन्तु यह ब्रह्माण्ड इतना विराट है कि मनुष्य अपने सम्पूर्ण ज्ञान-विज्ञान का उपयोग करके भी अब तक ब्रह्माण्ड में बालुकाकण सदृश इस सौरमण्डल में चक्कर काटते चन्द पिण्डों के विषय में भी सम्यक् जानकारी हासिल नहीं कर पाया है, परन्तु मानव का जिज्ञासु मस्तिष्क हमेशा ही इस प्रश्न का समाधान खोजने में लगा रहा। इसी क्रम में उसमें सृष्टि विषयक भिन्न-भिन्न कल्पनाएं कर डाली और अपने ग्रन्थों में इसे सुरक्षित किया।

भारतीय दर्शन की विभिन्न शाखाओं में सृष्टि के सम्बन्ध में अलग-अलग मत प्रतिपादित किये गये है। इनमें सृष्टि को देवकृत, ईश्वरकृत, ब्रह्मकृत, शून्यकृत आदि कहा गया है। विश्व वाङ्मय में सर्वप्राचीन ग्रन्थ वेद से ही इस विषय में ऊहापोह प्रारम्भ हो जाता है। वैदिक साहित्य में सृष्टि की अवधारणा इस प्रकार है —

हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्।

स दाधार पृथवी द्यामुतेमा कस्मै देवाय हविषा विधेम।। [१]

अर्थात् सबसे पहले स्वर्ण के समान देदीप्यमान यह गोला प्रकट हुआ। वही संम्पूर्ण भावी सृष्टि का एकमात्र प्रवर्तक सिद्ध हुआ उसी ने इस पृथ्वी और आकाश को अपने में सम्भाले रखा। संसार के उसी स्रष्टा का हम अभिवादन करते है। वहीं यह भी कहा गया है —

---

*. शोधच्छात्र, जैन-बौद्ध दर्शन विभाग, संस्कृतविद्या धर्मविज्ञान सङ्काय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी-२२१००५

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ततो विराऽजायतव्विराजो अधिपूरुषः।

स जातो अत्यरिच्यतपश्चाद्भूमिमथो पुरः।। [२]

अर्थात् सर्वप्रथम स्वयं प्रकट होने वाले विराट आदिपुरुष ने ही इस पृथ्वी और सृष्टि को जन्म दिया।

इसके पश्चात् 'पुरुष सूक्त' में क्रमशः भूमि, यज्ञ, वायव्य-आरण्य, ग्राम्य पशु, तीन वेद (ऋक्, साम, यजुः), अश्व, गौ, बकरा, देवता, ऋषि, चार वर्ण, चन्द्रमा, सूर्य, वायु, प्राण, अग्नि, आकाश, भूमि तथा अनेक लोक, वसन्त, ग्रीष्म और शरद की उत्पत्ति हुई। फिर जल से पृथ्वी में रस उत्पन्न हुआ।

मनुस्मृति के अनुसार[३] आरम्भ में चारों ओर घोर अन्धकार था। इसमें स्वयं प्रकाशवान् अरूप भगवान् ने अन्धकार दूर किया और अपने चारों ओर जल फैलाकर उसमें बीज (चैतन्य तत्त्व) डाल दिया। उस बीज से स्वर्ण की तरह दमकने वाला और सूर्य की तरह प्रकाशवान् एक अण्डे के आकार का विशाल ज्योतिष पिण्ड प्रकट हुआ। उसी अण्डाकार ज्वलन-पिण्ड से स्वयं भगवान् स्रष्टा ब्रह्मा के रूप में प्रकट हुए और सृष्टि की रचना की। वेदान्तियों का मानना है कि यह सब कुछ केवल ब्रह्म ही है। यहाँ, अनेक रूपों और नामों से दिखाई देने वाली वस्तुएँ कुछ नहीं हैं।

सर्व खल्विदं ब्रह्म नेह नानास्ति किञ्चन। [४]

न्याय और वैशेषिक दर्शन का मत है कि जब यह संसार पूर्णतः ध्वस्त होकर लय होजाता है तब केवल परमेश्वर ही एकमात्र शेष रह जाते हैं। वे जब पुनः संसार का निर्माण करने की इच्छा करते हैं उस समय अदृष्ट परमात्मा के सम्पर्क से वायु के सूक्ष्म कणों में हलचल होने लगती है। इन नन्हें-नन्हें वायु कणों के मिलते चलने से वायु का वेग तीव्र हो जाता है और वह आकाश में व्याप्त होने लगता है। इस वायु के वेग के साथ-साथ जल के कण भी इस प्रकार बढ़ते चलते है कि उनके बढ़ने से चारों ओर जल फैल जाता है इसी प्रकार वायु के छोटे-छोटे परमाणु भी धीरे-धीरे मिलकर बढ़ते-बढ़ते पानी में बैठते चलते है और सृष्टि का निर्माण होने लगता है। न्याय और वैशेषिक दर्शन के आचार्य इन्हीं परमाणुओं से ही सृष्टि का निर्माण मानते है।[५] सांख्य और योग दर्शन के आचार्यों का मत है कि प्रकृति और पुरुष के संयोग से सृष्टि होती है।[६] राग(प्रकृति) और विराग (पुरुष) को इस योग से महदादि क्रम से पञ्चभूतपर्यन्त तत्त्वों की सृष्टि होती है।[७]

उपनिषदों की मान्यता है कि ईश्वर के मात्र इच्छा व्यक्त करने से ही यह जगत् प्रकट हो गया।

'एकोऽहं बहुस्यां प्रजायेय' अर्थात् मैं एक हूँ, मैं बहुत हो जाऊँ। और यह

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

नाम-रूपात्मक जगत् प्रकट हो गया।[८] उपनिषदों की सृष्टि की अवधारणा के सार का प्रतिपादन इस प्रकार है — "प्रारम्भ में अविद्याशबल सद्ब्रह्म थे। उनसे अव्यक्त उत्पन्न हुआ। अव्यक्त से महान्, महान् से अहङ्कार, अहङ्कार से पञ्चन्मात्र, पञ्चन्मात्र से पञ्चमहाभूत, पञ्चमहाभूतों से अखिल विश्व।"[९] पुराणों के अनुसार इस सृष्टि का मूल कारण ब्रह्म है। ब्रह्म के स्वभाव अथवा स्वरूप में व्यक्त, अव्यक्त, काल तथा पुरुष — ये चार शक्तियाँ निहित हैं। इन चार की सहायता या प्रयोग से वह इस विश्व की सृष्टि स्थिति तथा प्रलय करता है। यद्यपि प्रकृति (अव्यक्त), पुरुष, व्यक्त (जगत्) तथा काल परमात्मा विष्णु के रूप हैं तथापि वह उनके द्वारा सीमित नहीं होता। वह उनसे परे भी विद्यमान रहता है। यह व्यक्ताव्यक्त रूप जगत् उस परमात्मा विष्णु की क्रीड़ा के समान है।[१०]

पुराणों में सृष्टि की उत्पत्ति की कई मान्यताएँ प्राप्त होती है। इसमें रौद्री सृष्टि, अंगज सृष्टि, मानवी सृष्टि, मैथुनी सृष्टि, चतुर्विध प्रज्ञा सृष्टि प्रमुख है।

यहाँ जैन दर्शन की मान्यतानुसार सृष्टि की अवधारणा पर विचार किया जा रहा है।

सृष्टि के सम्बन्ध में जैन दर्शन पूर्णत: निर्णीत है। उसके अनुसार यह लोक (विश्व या सृष्टि) जीव तथा पुद्गल आदि छ: द्रव्यों से निर्मित है। ये छ: द्रव्य हैं — १. जीव, २. पुद्गल, ३. धर्म, ४. अधर्म, ५. आकाश, और ६. काल। जीव उसे कहते हैं, जो चेतना सहित हो पुद्गल, जो रूप, स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण आदि युक्त है। जो जीव और पुद्गल के गमन में सहकारी हो उसे धर्म तथा जो जीव और पुद्गल की स्थिति में सहकारी हो उसे अधर्म द्रव्य कहा गया है। जो जीवादि पदार्थों को अवकाश दे उसे आकाश कहते हैं तथा जो जीवादिक पदार्थों के परिणमन में सहकारी हो उसे कालद्रव्य कहते हैं। ये छ: द्रव्य न तो कभी किसी से उत्पन्न हुए हैं और न कभी किसी अन्य द्रव्य में विलीन ही होंगे। इन छ: द्रव्यों की अनन्त संख्या से निर्मित यह लोक भी आदि अन्तरहित, अकर्त्तृक तथा स्वसंचालित है।[११] इसका स्रष्टा, पालक अथवा संहारक भी कोई नहीं है।[१२] यद्यपि **ब्रह्मवादी पुराणों** की तरह जैन दर्शन भी सद्वादी है, किन्तु उसका सत् पुराणों के समान कोई तत्त्व अथवा द्रव्य नहीं अपितु द्रव्य का लक्षण मात्र है।[१३] इस लक्षण से कुछ उत्पन्न नहीं होता; किन्तु उस लक्षण से युक्त द्रव्य से निरन्तर अनेक पर्यायों की उत्पत्ति एवं संहृति होती रहती है तथा इसके बावजूद भी वह द्रव्य अव्यय बना रहता है।[१४] यहाँ हम छ: द्रव्यों के आपसी सम्बन्ध और सृष्टि विषयक विवेचन प्रस्तुत करेंगे।

जीव की परिभाषा करते हुए जैन दर्शन में कहा गया है कि तीन काल में इन्द्रिय, बल, आयु और आनपान इन चारों प्राणों को जो धारण करता है, वह व्यवहार नय से जीव है, और निश्चय नय से जिसके चेतना है, वही जीव है।[१५]

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जीव को यहाँ कई श्रेणियों में बाँटा गया है। जैनों के मतानुसार जीव या आत्मा शुद्ध, बुद्ध रूप में अवस्थित है तथा कर्म (पाप या पुण्यकर्म) के साथ संयोग होने के कारण वह शरीररूपी पुद्गल से साथ बंध जाता है जिससे जीव कार्मण शरीर के साथ उत्पन्न होता है। वह जीव का शुद्ध रूप नहीं बल्कि अशुद्ध रूप है। सृष्टि के प्रारम्भिक चरण में जीव निगोद रूप में होता है। गोम्मटसार में कहा गया है कि साधारण नामक नामकर्म के उदय से जीव निगोद शरीरी होता है, "नि" अर्थात् अनन्तपना है निश्चित जिसका, ऐसे जीवों को "गो" अर्थात् एक ही क्षेत्र, "द" अर्थात् देता है, उसको निगोद कहते हैं। अर्थात् जो अनन्त जीवों को एक निवास दे उसको निगोद कहते हैं।[१६] ये निगोद दो प्रकार के होते हैं — चतुर्गति निगोद और नित्य निगोद। जिन्होंने अतीतकाल में त्रसभाव को प्राप्त नहीं किया ऐसे उन्नत जीव हैं, क्योंकि वे प्रचुर भावकलंक से युक्त है[१७] तथा त्रस पर्याय को प्राप्त करने के योग्य नहीं है वे नित्य निगोद कहलाते हैं तथा जो देव, नारकी, तिर्यंक और मनुष्यों में उत्पन्न होकर पुनः निगोदों में प्रवेश करते रहते हैं वे चतुर्गति निगोद जीव कहे जाते हैं।[१८] निगोद की गणना वनस्पतिकायिक जीवों में की जाती है। निगोद चूँकि अनन्त है इसलिए इनका कभी अन्त नहीं होता है। अगले चरण में जीवों के एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरेन्द्रिय तथा पञ्चेन्द्रिय— पांच भेद किये गयें हैं। एकेन्द्रिय जीवों में पृथ्वी, जल, तेज, वायु और वनस्पतिकायिक जीवों को रखा गया है इन्हें स्थावर जीव भी कहा गया है।[१९] इनमें केवल आहार, शरीर, एक इन्द्रिय तथा श्वासोच्छ्वास— ये चार पर्याप्तियाँ ही होती है। द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरेन्द्रिय जीवों में इन चारों के अलावा भाषा भी होती है। पञ्चेन्द्रिय जीव दो प्रकार के हैं — संज्ञी और असंज्ञी। संज्ञी पञ्चेन्द्रिय जीवों के मन सहित सभी छः पर्याप्तियाँ होती हैं जबकि असंज्ञी पञ्चेन्द्रिय जीवों के मन नहीं होता। ये सम्मूर्च्छित अवस्था के जीव हैं। पञ्चेन्द्रिय जीव में मनुष्य आता है।

निगोद अवस्था से लेकर पञ्चेन्द्रिय अवस्था तक जीव अपने कर्मों के अनुसार उत्पन्न होता है। संज्ञी पञ्चेन्द्रिय जीव में ही केवल यह क्षमता होती है कि वह संवर और तप आदि के द्वारा कर्मों की निर्जरा करके स्वयं को शुद्ध, बुद्ध रूप में स्थापित कर ले। कर्मों की निर्जरा और आत्मां के विकास के लिए जैनदर्शन में चौदह श्रेणियों की अवधारणा विकसित की गयी है जिसे गुणस्थान कहा जाता है। ये चौदह गुणस्थान हैं — १. मिथ्यात्व, २. सासादन, ३. मिश्र, ४. अविरत सम्यक्, ५. देशविरत, ६. प्रमत्तविरत, ७. अप्रमत्तविरत, ८. अपूर्वकरण, ९. अनिवृत्तिकरण, १०. सूक्ष्म साम्पराय, ११. उपशान्त मोह, १२. क्षीण मोह, १३. सयोगीकेवली और १४. अयोगीकेवली। इनमें अयोगीकेवली की अवस्था में जीव अपने सभी आठ कर्मों — ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय, मोहनीय, नाम, आयु, गोत्र और अन्तराय— को नष्ट करके अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त चारित्र और अनन्त वीर्य से युक्त होकर

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मोक्ष स्थान को प्राप्त करता है। जितने जीव मोक्ष प्राप्त करते हैं उतनी ही संख्या में जीव निगोद से जीवलोक में आ जाते हैं और इनका चक्र निरन्तर चलता रहा है। चूँकि निगोदों की संख्या अनन्त है, अत: यह लोक जीवों से कभी रिक्त नहीं हो सकता है।

जीव के अलावा जो पाँच द्रव्य पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल हैं ये अजीव द्रव्य कहे गये हैं। इनमें पुद्गल मूर्तिमान् है, क्योंकि यह रूप आदि गुणों का धारक है और शेष चारों अमूर्त हैं।[२०]

इनमें पुद्गल द्रव्य - शब्द (भाषा), बन्ध (मृत्तिका) आदि के पिण्डरूप से जो घर, गृह, मोदक आदि पुद्गल बन्ध तथा जीव और पुद्गल के संयोग से उत्पन्न कर्म-नोकर्म रूपी बन्ध, सूक्ष्म (बेल की अपेक्षा बेर की सूक्ष्मता), स्थूल (बेर की अबपेक्षा बेल आदि का स्थूलत्व), समचतुरस्र, न्यग्रोध, सातिक, कुब्जवामन और हूंड — इन छ: प्रकार के संस्थान, गेहूँ आदि के चूर्ण तथा घी, खांड आदि रूप से अनेक प्रकार के भेद, दृष्टि को रोकने वाला अन्धकार (तम), वृक्ष, मनुष्य आदि के प्रतिबिम्बरूप होने वाली छाया, चन्द्रमा तथा खद्योत आदि में होने वाला उद्योत तथा सूर्य आदि से प्राप्त होने वाला आतप आदि पर्याय रूप हैं।[२१]

गति में सहायक द्रव्य धर्म कहलाता है, जैसे मछली के गमन में जल सहायक है। स्थिति सहित जीवों के स्थिति में सहकारी कारण अधर्म द्रव्य है। जैसे पथिकों की स्थिति में छाया सहायक होती है।[२२] जीव आदि पाँच द्रव्यों को अवकाश देने वाला आकाश द्रव्य है।

आकाश द्रव्य अनन्त-अनन्त विस्तार वाला है।[२३] वह एक परमविस्तृत गतिरहित अचेतन द्रव्य है, जिसमें सभी प्रकार के रूप, रस, गन्ध, शब्द तथा स्पर्श का सर्वथा अभाव है। इस परम विस्तृत आकाश के केन्द्र में एक छोटे से क्षेत्र में नानाप्रकार के जीव तथा जड़ पदार्थों से भरा हुआ अनादि तथा अन्तरहित लोक है।[२४] सर्वार्थसिद्धि में कहा गया है कि इस लोक में जितने विस्तृत, गति तथा स्थिति के सहायक धर्म एवम् अधर्म नाम के एक-एक द्रव्य इसमें समान रूप से स्थित हैं, काल नामक द्रव्य भी उसके प्रत्येक प्रदेश में स्थित है; किन्तु असंख्य स्कन्ध परमाण्वात्मक पुद्गल तथा अनन्त संख्यक जीवात्माएँ उसमें यत्र-तत्र बिखरी हुई हैं। जीव एवं पुद्गल द्रव्यों को छोड़कर अन्य सब द्रव्य गतिशून्य (अचल) हैं। पौद्गलिक क्रियाओं तथा जीवात्माओं के संसर्ग के कारण पुद्गल तथा स्वकर्म के कारण जीवगण इस लोकाकाश में सर्वत्र भ्रमण करते हैं।[२५]

आकाश को दो भागों में विभक्त किया गया है — लोकाकाश और अलोकाकाश। अलोकाकाश का क्षेत्र विस्तार अनन्त हैं। यहाँ धर्म, अधर्म आदि किसी जीव की उपस्थिति नहीं हो सकती है। सभी छ: द्रव्य लोकाकाश तक ही सीमित होते हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जैन दर्शन में **लोकाकाश** की कल्पना पुरुषाकार रूप में की गयी है। इसे मुख्यत: तीन भागों में बाँटा गया है— अधोलोक, मध्यलोक और उर्ध्वलोक इस पुरुषाकार लोक के सबसे निचले भाग में बीस-बीस हजार योजन मोटा तनुवातवलय, घनवातवलय और घनोदधिवातवलय नामक सतह है उसके ऊपर कमर प्रमाण निगोद तथा महातमप्रभा, तमप्रभा, धूमप्रभा, पंकप्रभा, बलुकाप्रभा, शर्कराप्रभा तथा रत्नप्रभा नामक सात नरकभूमियाँ स्थित हैं। यह अधोलोक है। इसकी मोटाई सात रज्जु प्रमाण है। मध्य लोक एक रज्जु प्रमाण मोटा है। जैन मान्यतानुसार इस मध्य लोक में स्थित हमारी पृथ्वी के बीचोबीच सुमेरु नामक पर्वत है। इसकी ऊँचाई एक लाख योजन (चार कोस - एक योजन) है। सुमेरु जितना ऊँचा और एक रज्जु लम्बा (पं० माधवाचार्य के अनुसार १००० किलो भार का गोला इन्द्रलोक से नीचे गिरकर छ: माह में जितनी दूर पहुँचे वह लम्बाइं एक रज्जु है।) तथा इतना ही चौड़ा मध्यलोक है। यह लोक सुमेरु के चारों ओर व्याप्त है। इस मध्यलोक के बहुमध्य भाग में पैंतालीस लाख योजन विस्तार वाला अतिगोल मनुष्य लोक है।[२६] मनुष्यलोक के बीचोबीच जम्बूद्वीप है। इसका विस्तार एक लाख योजन है।[२७] इस जम्बूद्वीप के अन्तर्गत भरत, हैमवत, विदेह, रम्यक, हैरण्यवत् तथा ऐरावत् - ये सात क्षेत्र हैं।[२८] इनमें से भरत क्षेत्र में हम निवास करते हैं। मनुष्यलोक के अलावा मध्यलोक में तिर्यक्लोक तथा चौरासी लाख जीवों का भी अवस्थान है।

इसके ऊपर विमानलोक अवस्थित है इसमें सबसे नीचे १६ कल्प विमान हैं जिनमें रहने वाले देवता कल्पवासी कहलाते हैं। जैनाचार्यों ने विमानलोक को कल्प और कल्पातीत दो भागों में बाँटा है। कल्प विमान के ऊपर ज्योतिर्लोक है जहाँ सूर्य, चन्द्र, तारा, ग्रह आदि का निवास है। इसके ऊपर समुद्रस्थ, भवनपुरों तथा पर्वतस्थ आवासों में निवास करने वाले व्यन्तर जाति के आठ प्रकार के देव-किन्नर, किंपुरुष, महोरग, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, भूत एवं पिशाच[२९] निवास करते हैं। इसे व्यन्तरलोक कहा गया है। जैनों के इन व्यन्तर देवताओं की तुलना पुराणों के अन्तरिक्षचारी, गन्धर्व, अप्सरा, भूत, पिशाच, नाग, अश्विनी, मरुद्गण आदि अनिकेत देवताओं से की जा सकती है।[३०]

इसके अतिरिक्त भवनपति देवताओं का निवास भवनलोक है जो ऊर्ध्वलोक में न होकर मध्यलोक में पृथ्वीतल के निचले भाग में अवस्थित है। इनमें असुर, नाग, विद्युत, सुपर्ण, अग्नि, वायु, स्तनिक, उदधि, दिक् तथा द्वीप कुमार नामक दस प्रकार के देवता निवास करते हैं।[३१]

पुराणवर्णित अतल, पितल आदि सात पाताललोकों में रहने वाले दैत्य, दानव, यक्ष, नाग आदि से इनकी तुलना की जा सकती है।[३२]

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

लोक के सबसे ऊपरी हिस्से से कुछ नीचे अर्थात् ग्रीवा स्थान में कल्पातीत विमान स्थित हैं। इनमें ५ अनुत्तर विमान, नौ अनुदिश विमान तथा नौ ग्रैवेयक विमान हैं।[३३] इन अकृत्रिम विमानों में कामवासना शून्य तथा ज्ञानवैराग्य प्रधान देवता निवास करते हैं।[३४] इन कल्पातीत देवताओं की तुलना पुराणों की तपोलोकवासी, वैराग्यप्रधान वैराज नामक देवताओं से की जा सकती है।[३५]

सबसे ऊपर सिद्धलोक अवस्थित है इसमें सिद्धात्माएँ निवास करती हैं, ये आत्माएँ सभी प्रकार के कर्मावरणों तथा शरीरादि से पूर्णत: रहित हैं। ये सब अनन्त सुख, बल, ज्ञान और वीर्य से युक्त हैं। उनका पुनर्जन्म नहीं होने वाला है।[३६] जैनदर्शन के अनुसार जितने जीव सिद्ध होते हैं उतने जीव निगोद से पृथ्वी पर आ जाते हैं जिससे लोक में जीवों की कमी नहीं होती है।

अन्तिम द्रव्य काल है। काल अनादि अनन्त माना गया है। जैनदर्शन के अनुसार भरत और ऐरावत क्षेत्र में अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी नामक छ: काल परिवर्तन होते हैं। ये परिवर्तन सतत् चलते हैं। इन दोनों के छ: - छ: भेद किये गये हैं जिन्हें आरा कहा जाता है। ये हैं — १. सुषमासुषमा, २. सुषमा, ३. सुषमादुषमा, ४. दुषमासुषमा, ५. दुषमा, ६. अतिदुषमा। अवसर्पिणी काल में यह ऊपर से नीचे और उत्सर्पिणी काल में नीचे से ऊपर परिवर्तित होता है, इनका प्रवर्तन रहट-घट न्याय अथवा शुक्ल-कृष्ण पक्ष के समान होता रहता है।[३७] इन छ: विभागों में अवसर्पिणी काल के प्रथम तीन विभाग सुषमासुषमा, सुषमा तथा सुषमादुषमा एवम् उत्पसर्पिणी के अन्तिम यही तीन भोग भूमि कहलाते हैं शेष कर्मभूमि है। भोगभूमि काल में मनुष्यों की इच्छाओं की पूर्ति १० प्रकार के कल्पवृक्षों से होती है। काल के इन द्विविध प्रवर्तनों के कारण भरत तथा ऐरावत क्षेत्र के मनुष्यादि की आयु, शरीर की ऊँचाई तथा अनुभव में वृद्धि तथा ह्रास (उत्सर्पण एवम् अवसर्पण) होता रहता है।[३८] पर इनका अन्त कभी नहीं होता, अन्तिम आरा दुषमादुषमा में मनुष्य और अन्य जीवों की स्थिति अत्यन्त हीनावस्था में आ जाती है। वे बिलों में निवास करने वाले और कीचड़ आदि खाने वाले हो जाते हैं। अगले काल-चक्र में उनका पुन: विकास होने लगता है, जो बढ़ते-बढ़ते सुषमा-सुषमा काल में यौगलिक अवस्था तक पहुँचते हैं, जब लोगों को बिना कोई कर्म किये काल के प्रभाव से सभी इच्छाओं की पूर्ति विभिन्न प्रकार के कल्पवृक्षों से होने लगती है।

इस लोक में ये छ: द्रव्य एक दूसरे में प्रविष्ट हुए जान पड़ते हैं। पर वे तात्त्विक दृष्टि से अलग-अलग हैं। वे न तो किसी एक तत्त्व से उत्पन्न हुए हैं, और न ही एक तत्त्व में विलीन होने वाले है, वे अनादि काल से आपस में मिले होने पर भी आपस में मिलने वाले नहीं हैं। भविष्य में भी अन्योन्य सप्लव नहीं होंगे।[३९] इन छ: द्रव्यों के आपसी सहयोग से यह सृष्टि अनवरत गतिवान है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पुराणों के अनुसार इस सृष्टि का संचालक ब्रह्म अथवा ईश्वर है। प्राचीन काल में कभी एकाकी ईश्वर में सृष्टि की कामना हुई तब ईश्वर ने अपने श्वास से इस संसार के समस्त प्राणियों की रचना की। सृष्टि की रचना करने वाले ईश्वर ब्रह्मा कहलाये। इसके पश्चात् वह ब्रह्मा विष्णु का रूप धारण करके जगत् का पालन करने लगे। प्रलयकाल में वही ब्रह्म शङ्कर रूप में विश्व का संहार कर डालते हैं। कुछ समय के विश्राम के पश्चात् वहीं क्रम पुनः शुरू होता है।

पुरुषार्थवादी जैन दार्शनिकों को विश्व के इस एकमेव अद्वितीय मूल तत्त्व ब्रह्म और उसके द्वारा विश्व की सृष्टि, स्थिति एवं संहार का सिद्धान्त अमान्य है। उनके अनुसार न तो कोई ब्रह्मा इस सृष्टि का सृजन करता हैं, न कोई विष्णु इसका पालन करते हैं और न ही कोई शिव इसका संहार करते हैं। इसके विपरीत उन्होंने इस सृष्टि को आदि-अन्त से रहित, शाश्वत माना है, कार्तिकेयानुप्रेक्षा नामक ग्रन्थ में कहा गया है —

सर्वाकाशमनन्तं तस्य च बहुमध्यसंस्थितः लोकः।

स केनापि नैव कृतः न च धृत हरिहरादिभिः।।१५।।

जैन दर्शन में जड़ (अजीव) और चेतन (जीव) के बीच कोई पूर्वापर सम्बन्ध नहीं है। यहाँ जीव और अजीव दोनों एक दूसरे के प्रतिपक्षी है और एक के बिना दूसरे का अस्तित्त्व सिद्ध नहीं हो सकता है। यह अनादि और पूर्वापर मुक्त शाश्वत भाव से चलता रहता है।[४०]

उनके अनुसार यह सृष्टि पूर्वोक्त छः द्रव्यों के स्वभाव से स्वतः संचालित है। इस लोक में यद्यपि ये छः द्रव्य एक दूसरे से जुड़े हैं फिर भी तात्त्विक दृष्टि से वे सर्वथा भिन्न-भिन्न८ हैं। न तो ये किसी एक तत्त्व से उत्पन्न है, और न एक में विलीन होने वाले हैं। इस प्रकार षड्द्रव्यों से निर्मित अकृतिम, अनीश्वर सृष्टि की कल्पना जैनदर्शन में प्राप्त होती है।

सन्दर्भ-सूची

१. ऋग्वेद, १०/१२/१;

शुक्ल यजुर्वेद, १३/४/१.

२. शुक्ल यजुर्वेद, ३१/५.

३. मनुस्मृति, अध्याय १, श्लोक ९-१५.

४. ब्रह्मसूत्र, छान्दोग्य उपनिषद्, ३/१४/१ — (सर्वमेतदिदंब्रह्म)

५. वाग्विज्ञान, पृ० ३४.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

६. सांख्यसूत्र, २/९ — रागविरागयोर्योग: सृष्टि:।

७. वही, २/१० — महदादिक्रमेण पञ्चभूतानाम्।

८. छान्दोग्य उपनिषद्, २/६.

९. त्रिशिखि ब्राह्मणोपनिषद- १

१०. विष्णुपुराण, १/२/१८

व्यक्तं विष्णुस्तथा व्यक्तं पुरुष: काल एव च।

क्रीडतो बालकस्यैव चेष्टां तस्य निशामय।।

गरुड़पुराण, १/४/४-६; भागवतपुराण, २/५/२१.

११. लोको ह्यकृत्रिमो ज्ञेयो जीवाद्ययविगाहक:।

नित्य: स्वभाव- निर्वृत: सोऽनन्ताकाशमध्यम:।। — महापुराण ४/१५

१२. कार्तिकेयानुप्रेक्षा- ११५

१३. सद्द्रव्यलक्षणम्, तत्त्वार्थसूत्र, ५/३२

१४. उत्पात् व्यथ-ध्रौव्ययुक्तं सत्, वही, ५/३३

गुणपर्यायवद् द्रव्यम्, ५/३४

१५. द्रव्यसंग्रह, गा० ३.

१६. गो०सार जीवकाण्ड, जीव प्र०, १९१,४२९,१५

१७. षट्खण्डागम्, १४/५,६, सू० १२७/२३३.

१८. वही, सू० १२८.

१९. द्रव्यसंग्रह, गा० ११.

२०. अज्जीवो पुणणेओ पुग्गलधम्मों अधम्म आयासं।

कालो पुग्गल मुत्तो रूवादिगुणो अमुत्ति सेसा हु।। — द्रव्यसंग्रह, गा० १५.

२१. सद्दोबंधो सुहूमो थूलो संठाण भेद तम छाया।

उज्जोदादवसहिया पुग्गलदव्वस्स पज्जाया।। — द्रव्यसंग्रह, गा० १६

२२. वही, १७,१८.

२३. सर्वार्थसिद्धि, ५१९.

२४. वही, ५/१२, लोकाकाशेऽवगाह:।

२५. सर्वार्थसिद्धि, ५/१-२२.

२६. तिलोयपण्णति ४/६.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

२७. वहीं, ५१३२

२८. तत्त्वार्थसूत्र, ३/१०.

२९. तिलोय०, ६/२५/६; तत्त्वार्थसूत्र, ४/११.

३०. वायुपुराण, १०१/२८-२९.

३१. तिलोयपण्णति, ३/९; तत्त्वार्थसूत्र, ४/१०.

३२. विष्णुपुराण, २/५.

३३. तिलोय०, ८/११७.

३४. तत्त्वार्थसूत्र, ४/९.

३५. वायु०, १०१/४०,३७; विष्णुपुराण, २/७१४.

३६. गोम्मटसार, जीवकाण्ड, ६८.

३७. तिलोय०, ४/१६१४.

३८. सर्वार्थसिद्धि, ३/२७-२८.

३९. कार्तिकेयानुप्रेक्षा, ११६.

अण्णोण्णपवेसेण य दव्वाणं अच्छणं हवे लोओ।

यथास्वं गुणपर्यायैरतो नान्योऽन्यसंप्लवः।।

४०. भगवई- सम्पादक आचार्य महाप्रज्ञ, लाडनूं, पृ० १३४-१३५.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

श्रमण

विधिपक्ष अपरनाम अंचलगच्छ (अचलगच्छ) का संक्षिप्त इतिहास

*शिवप्रसाद**

चन्द्रकुल से निष्पन्न प्रवर्तमान गच्छों में प्राचीनता की दृष्टि से खरतरगच्छ और तपागच्छ के बाद अंचलगच्छ का स्थान आता है। इस गच्छ के तीन नाम — विधिपक्ष, अंचलगच्छ और अचलगच्छ— मिलते हैं। बृहद्गच्छीय आचार्य जयचन्द्रसूरि के शिष्य विजयचन्द्रगणि अपरनाम आर्यरक्षितसूरि द्वारा वि०सं० ११६९/ई०स० १११३ में विधिमार्ग की प्ररूपणा और उसके पालन करने से यह गच्छ अस्तित्त्व में आया। अचलगच्छ नाम पड़ने के सम्बन्ध में प्रचलित कथा के अनुसार गूर्जरेश्वर जयसिंह सिद्धराज ने एक बार पुत्रकामेष्टि यज्ञ प्रारम्भ किया था। वहां सर्पदंश के कारण यज्ञमण्डप में ही गाय की मृत्यु हो गयी। यज्ञ की सफलता के लिये गाय का यज्ञस्थल से जीवित ही बाहर आना अनिवार्य था। इस समस्या के समाधान के लिये राजा ने आर्यरक्षितसूरि से निवेदन किया और आचार्य द्वारा परकायप्रवेशिनीविद्या के प्रयोग से गाय के सजीवन हो कर यज्ञस्थल से बाहर आने पर यज्ञ सफल हो गया। इस प्रकार आचार्य आर्यरक्षितसूरि के स्ववचन पर अचल रहने के कारण सिद्धराज ने उन्हें 'अचल' विरुद प्रदान किया।[१] यह दन्तकथात्मक घटना वि०सं० ११८५-९५ के मध्य घटित हुई बतलायी जाती है। इस प्रकार विधिपक्ष का एक नाम **अचलगच्छ** प्रचलित हो गया।

अंचलगच्छ नाम पड़ने के सम्बन्ध में जो कथा मिलती है उसके अनुसार चौलुक्यनरेश कुमारपाल ने आर्यरक्षितसूरि का यश सुनकर उन्हें अपनी सभा में आमन्त्रित किया। वहां उपस्थित कुडी व्यवहारी नामक श्रावक ने अपने उत्तरीय के एक छोर से भूमि का प्रमार्जन कर आर्यरक्षितसूरि को वन्दन किया और कुमारपाल की जिज्ञासा पर हेमचन्द्राचार्य ने वन्दन की उक्त विधि को शास्त्रोक्त बतलाया जिससे कुमारपाल ने विधिपक्ष को **अंचलगच्छ** नाम प्रदान किया।[२] यह घटना वि०सं० १२१३/ई०स०

---

*. प्रवक्ता, पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

११५७ में हुई, ऐसा उल्लेख मिलता है।[२अ]

दोनों घटनाओं में द्वितीय घटना, जो कुमारपाल से सम्बन्धित है, वह सत्य के निकट प्रतीत होती है, क्योंकि प्राचीन प्रशस्तियों, शिलालेखों-प्रतिमालेखों आदि से भी अंचलगच्छ नाम की ही पुष्टि होती है, अचलगच्छ की नहीं। इस प्रकार अचलगच्छ नाम बाद में पड़ा प्रतीत होता है। वर्तमान में इस गच्छ अनुयायी श्रमण और श्रावक अलबत्ता अचलगच्छ शब्द का प्रयोग करने लगे हैं, अंचलगच्छ शब्द का नहीं।

इस गच्छ में जयसिंहसूरि, धर्मघोषसूरि, महेन्द्रसिंहसूरि, धर्मप्रभसूरि, महेन्द्रप्रभसूरि, जयशेखरसूरि, मेरुतुंगसूरि, जयकेशरीसूरि, धर्ममूर्तिसूरि, कल्याणसागरसूरि आदि प्रभावक और विद्वान् जैनाचार्य और मुनिजन हो चुके हैं। जैन परम्परा में समय-समय पर अस्तित्व में आये अनेक गच्छ जहां विलुप्त हो गये, वहीं अंचलगच्छ आज भी विद्यमान है, जिसका श्रेय इस गच्छ के क्रियासम्पन्न मुनिजनों को है।

अंचलगच्छ इस तरह एक जीवन्तगच्छ है और इससे सम्बद्ध पर्याप्त संख्या में ग्रन्थ और पुस्तक प्रशस्तियां एवं पट्टावलियां-गुर्वावलियां आदि प्राप्त होती हैं। ठीक इसी प्रकार इस गच्छ के मुनिजनों की प्रेरणा से प्रतिष्ठापित अनेक प्रतिमाओं पर उत्कीर्ण लेख प्राप्त होते हैं जो वि०सं० १२६३ से लेकर प्राय: वर्तमान काल तक के हैं।

साम्प्रत लेख में हम सर्वप्रथम पट्टावलियों तत्पश्चात् ग्रन्थप्रशस्तियों एवं पुस्तकप्रशस्तियों और अन्त में अभिलेखीय साक्ष्यों का विवरण प्रस्तुत करेंगे।

अंचलगच्छ से सम्बद्ध बड़ी संख्या में पट्टावलियां मिलती हैं जो वि०सं० की १५वीं शती से लेकर प्राय: वर्तमान काल तक की हैं। इनमें अपने-अपने समय तक की आचार्य परम्परा का इनके रचनाकारों ने उल्लेख किया है। चूंकि इस गच्छ के पट्टधर आचार्यों के क्रम में कभी कोई विवाद नहीं रहा है अत: इन सभी पट्टावलियों में अपने-अपने समय तक का समान विवरण मिलता है। अंचलगच्छ से सम्बद्ध पट्टावलियों में कुछ तो प्रकाशित हैं और कुछ अप्रकाशित। इस गच्छ के विद्वान् श्रावक सोमचन्द्र धारसी, कच्छ-अंजार वालों ने वि०सं० १९८५ में **अंचलगच्छम्होटीपट्टावली** प्रकाशित की है जिसमें कुछ पट्टावलियों का गुजराती भाषान्तर दिया गया है, जो इस प्रकार हैं—

१- मेरुतुंगसूरि द्वारा रचित पट्टावली (संस्कृत) वि०सं० १४३८

२- धर्ममूर्तिसूरि द्वारा रचित पट्टावली (संस्कृत) वि०सं० १६१७

३- अमरसागरसूरि द्वारा रचित पट्टावली (संस्कृत) वि०सं० १७४३

४- ज्ञानसागर द्वारा रचित पट्टावली (संस्कृत) वि०सं० १८२४

५- धर्मसागर द्वारा रचित पट्टावली (गुजराती) वि०सं० १९८४

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इसी प्रकार **विविधगच्छीयपट्टावलीसंग्रह** में मुनि जिनविजय ने अंचलगच्छीय आचार्य भावसागरसूरि द्वारा संस्कृत भाषा में रचित पट्टावली **वीरवंशपट्टानुक्रमगुर्वावली** प्रकाशित की है।[३] इस पट्टावली में रचनाकार ने सुधर्मास्वामी से लेकर अपने गुरु सिद्धान्तसागरसूरि तक का २३१ श्लोकों में विवरण प्रस्तुत किया है, जो इस गच्छ के इतिहास के अध्ययन के लिये अत्यन्त उपयुक्त है।

श्री मोहनलाल दलीचन्द देसाई ने स्वलिखित **जैनगूर्जरकविओ**, भाग २, खण्ड १ के अन्त में गुजराती भाषा में अंचलगच्छ की भी एक पट्टावली प्रकाशित की है।[३अ] इसी प्रकार *The Indian Antiquary, Vol. xxiii* में भी अंचलगच्छ की एक पट्टावली प्रकाशित है।[३ब]

अंचलगच्छ की अप्रकाशित पट्टावलियों में मेरुतुंगसूरि के शिष्य कवि कान्ह (वि०सं० १४वीं शती का अंतिम चरण) द्वारा १४० कण्डिकाओं में रचित **अंचलगच्छ नायकगुरुरास**; कवि लाखाकृत **गुरुपट्टावली** (वि०सं० १६वीं शती के मध्य के आस-पास); अंचलगच्छीय लक्ष्मीचन्द्र के शिष्य लावण्यचन्द्र द्वारा रचित **वीरवंशानुक्रम** (वि०सं० १७६३/ई०स० १७०७) आदि उल्लेखनीय हैं।

चूंकि इस गच्छ के पट्टधर आचार्यों के क्रम में कभी कोई विवाद नहीं है अत: इन सभी में अपने-अपने समय तक का समान विवरण मिलता है, जो इस प्रकार है—

आर्यरक्षितसूरि (वि०सं० १२३६ में स्वर्गस्थ)
↓
जयसिंहसूरि (वि०सं० १२५८ में स्वर्गस्थ)
↓
धर्मघोषसूरि (वि०सं० १२६८ में स्वर्गस्थ)
↓
महेन्द्रसिंहसूरि (वि०सं० १३०९ में स्वर्गस्थ)
↓
सिंहप्रभसूरि (वि०सं० १३१३ में स्वर्गस्थ)
↓
अजितसिंहसूरि (वि०सं० १३३९ में स्वर्गस्थ)
↓
देवेन्द्रसिंहसूरि (वि०सं० १३७१ में स्वर्गस्थ)
↓
धर्मप्रभसूरि (वि०सं० १३९३ में स्वर्गस्थ)
↓

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सिंहतिलकसूरि (वि०सं० १३९५ में स्वर्गस्थ)
↓
महेन्द्रप्रभसूरि (वि०सं० १४४४ में स्वर्गस्थ)
↓
मेरुतुंगसूरि (वि०सं० १४७१ में स्वर्गस्थ)
↓
जयकीर्तिसूरि (वि०सं० १५०० में स्वर्गस्थ)
↓
जयकेशरीसूरि (वि०सं० १५४१ में स्वर्गस्थ)
↓
सिद्धान्तसागरसूरि (वि०सं० १५६० में स्वर्गस्थ)
↓
भावसागरसूरि (वि०सं० १५८३ में स्वर्गस्थ)
↓
गुणनिधानसूरि (वि०सं० १६०२ में स्वर्गस्थ)
↓
धर्ममूर्तिसूरि (वि०सं० १६७० में स्वर्गस्थ)
↓
कल्याणसागरसूरि (वि०सं० १७१८ में स्वर्गस्थ)
↓
अमरसागरसूरि (वि०सं० १७६२ में स्वर्गस्थ)
↓
विद्यासागरसूरि (वि०सं० १७९७ में स्वर्गस्थ)
↓
उदयसागरसूरि (वि०सं० १८२६ में स्वर्गस्थ)
↓
कीर्तिसागरसूरि (वि०सं० १८४३ में स्वर्गस्थ)
↓
पुण्यसागरसूरि (वि०सं० १८७० में स्वर्गस्थ)
↓
राजेन्द्रसागरसूरि (वि०सं० १८९२ में स्वर्गस्थ)
↓
मुक्तिसागरसूरि (वि०सं० १९१४ में स्वर्गस्थ)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

↓

रत्नसागरसूरि (वि०सं० १९२८ में स्वर्गस्थ)

↓

विवेकसागरसूरि (वि०सं० १९४८ में स्वर्गस्थ)

↓

जिनेन्द्रसागरसूरि (वि०सं० २००४ में स्वर्गस्थ)

↓

गौतमसागरसूरि (वि०सं० २००९ में स्वर्गस्थ)

↓

गुणसागरसूरि (वि०सं० .... में स्वर्गस्थ)

↓

गुणोदयसागरसूरि (वर्तमान गच्छाधिपति)

अंचलगच्छ के आदिम आचार्य आर्यरक्षितसूरि द्वारा रचित कोई भी कृति नहीं मिलती और न ही इस सम्बन्ध में कोई उल्लेख ही प्राप्त होता है। यही बात इनके शिष्य एवं पट्टधर यशश्चन्द्रगणि अपरनाम जयसिंहसूरि के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है, किन्तु इस गच्छ के तृतीय पट्टधर आचार्य धर्मघोषसूरि द्वारा रचित **ऋषिमण्डल**[४] एवं **शतपदी**[५] अपरनाम **प्रश्नोत्तरपद्धति** नामक कृति का उल्लेख मिलता है। **शतपदी** पर उनके विद्वान् शिष्य एवं प्रसिद्ध रचनाकार महेन्द्रसिंहसूरि ने **शतपदीसमुद्धार**[६] नाम से संस्कृत भाषा में वृत्ति की रचना की, जिसकी प्रशस्ति में उन्होंने अंचलगच्छ की उत्पत्ति तथा अपने पूर्वाचार्यों का उल्लेख किया है, जो इस प्रकार है :

"बृहद्गच्छ में सर्वदेवसूरि नामक एक आचार्य हुए जिनकी परम्परा में आगे चलकर यशोदेवसूरि हुए जिनके शिष्य जयचन्दसूरि ने चन्द्रावती नगरी में अपने नौ शिष्यों — शान्तिसूरि, देवसूरि, चन्द्रप्रभसूरि, शीलगुणसूरि, पद्मदेवसूरि, भद्रेश्वरसूरि, मुनिचन्द्रसूरि, बुद्धिसागरसूरि और मलयचन्द्रसूरि को एक साथ आचार्य पद प्रदान किया। जयचन्द्रसूरि के एक शिष्य उपाध्याय विजयचन्द्र हुए, जो पहले अपने मामा शीलगुणसूरि के साथ पूर्णिमागच्छ में सम्मिलित हुए पर बाद में उनसे अलग होकर वि०सं० ११६९ में इन्होंने विधिपक्ष की स्थापना की। इनके शिष्य यशश्चन्द्रगणि हुए, जिन्हें वि०सं० १२०२/ई०स० ११४६ में आचार्य पद प्रदान किया गया और वे जयसिंहसूरि के नाम से विख्यात हुए। इनके शिष्य एवं पट्टधर धर्मघोषसूरि हुए जिन्होंने वि०सं० १२६३/ई०स० १२०७ में **शतपदी** अपरनाम **प्रश्नोत्तरपद्धति** नामक कृति की रचना की। उक्त कृति पर वि०सं० १२९४/ई०स० १२३८ में संस्कृत भाषा में **शतपदीसमुद्धार** नामक कृति के रचनाकार महेन्द्रसिंहसूरि इन्हीं धर्मघोषसूरि के शिष्य थे।"[७]

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सर्वदेवसूरि
|
यशोदेवसूरि
|
जयचन्द्रसूरि
|
शान्तिसूरि, देवसूरि, चन्द्रप्रभसूरि, शीलगुणसूरि, पद्मदेवसूरि, भद्रेश्वरसूरि आदि ९ शिष्य, उपाध्याय विजयचन्द्र अपरनाम आर्यरक्षितसूरि (वि०सं०१२०२ में आचार्यपद प्राप्त)
|
यशश्चन्द्रगणि अपरनाम जयसिंहसूरि
|
धर्मघोषसूरि (वि०सं० १२६३/ई० सन० १२१७ में शतपदी अपरनाम प्रश्नोत्तरपद्धति के रचनाकार)
|
महेन्द्रसिंहसूरि (वि०सं० १२९४/ई०स० १२३८ में शतपदीसमुद्धार के रचनाकार)

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है आर्यरक्षितसूरि और जयसिंहसूरि द्वारा रचित कोई कृति प्राप्त नहीं होती। जयसिंहसूरि के शिष्य धर्मघोषसूरि द्वारा प्राकृत भाषा में रचित **शतपदी** (वर्तमान में अनुपलब्ध) का ऊपर उल्लेख किया जा चुका है। **ऋषिमण्डलप्रकरण** भी इन्हीं की कृति है, जो उपलब्ध है। इनके पट्टधर महेन्द्रसिंहसूरि द्वारा रचित **शतपदीसमुद्धार** के अतिरिक्त **अष्टोत्तरीतीर्थमाला, विचारसप्ततिका, मनःस्थिरीकरणप्रकरण, सारसंग्रह** आदि कई कृतियां प्राप्त होती हैं।[८]

महेन्द्रसिंहसूरि के शिष्य एवं पट्टधर भुवनतुंगसूरि द्वारा रचित **ऋषिमण्डलस्तोत्रवृत्ति, चतुःशरणवृत्ति, आतुरप्रत्याख्यानवृत्ति, सीताचरित्र, मल्लिनाथचरित्र, आत्मबोधकुलक, ऋषभदेवचरित, संस्तारकप्रकीर्णक-अवचूरि** आदि कई रचनायें मिलती हैं।[९]

महेन्द्रसिंहसूरि के दूसरे शिष्य और भुवनतुंगसूरि के गुरुभ्राता कविधर्म भी अपने समय के प्रसिद्ध विद्वान् थे। उनके द्वारा रचित **जम्बूस्वामीचरित** (रचनाकाल वि०सं० १३६६/ई०स० १३१०), **स्थूलिभद्ररास, सुभद्रासतीचतुष्पदिका** आदि कई कृतियां प्राप्त होती हैं।[१०] पट्टावलियों के अनुसार भुवनतुंगसूरि के पट्टधर सिंहप्रभसूरि हुए जिनके द्वारा रचित न तो कोई कृति मिलती है और न ही इस सम्बन्ध में कोई उल्लेख ही प्राप्त होता है। सिंहप्रभसूरि के पट्टधर अजितसिंहसूरि और अजितसिंहसूरि

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

के पट्टधर देवेन्द्रसूरि के बारे में भी यही बात कही जा सकती है। अजितसिंहसूरि के एक अन्य शिष्य माणिक्यसिंहसूरि हुए जिनके द्वारा वि०सं० १३३८ में संस्कृत भाषा में ५०७ श्लोकों में रचित **शकुनसारोद्धार** नामक कृति प्राप्त होती हैं।[११]

देवेन्द्रसूरि के पट्टधर धर्मप्रभसूरि हुए जिनके द्वारा वि०सं० १३८७/ई०स० १३३१ में रचित **कालकाचार्यकथा** नामक कृति प्राप्त होती है।[१२] धर्मप्रभसूरि के एक शिष्य रत्नप्रभ हुए जिन्होंने वि०सं० १३९२/ई०स० १३३६ में **अन्तरंगसन्धि** की अपभ्रंश भाषा में रचना की।[१३] वि०सं० १३९३ में धर्मप्रभसूरि का निधन हुआ। इनके पट्टधर सिंहतिलकसूरि हुए जिनके द्वारा रचित कोई भी कृति नहीं मिलती; किन्तु इनके पट्टधर महेन्द्रप्रभसूरि द्वारा रचित **जीरापल्लीपार्श्वनाथस्तोत्र** नामक एकमात्र कृति आज प्राप्त होती है,[१४] जो लिंबडी के जैन भण्डार में संरक्षित है।[१५] इस कृति पर उपाध्याय धर्मनन्दनगणि[१६] एवं मंत्री वाडवकृत अवचूरि प्राप्त होती है।[१७] वि०सं० १४४४/ई०स० १३८८ में पाटण में इनका देहान्त हुआ।

महेन्द्रप्रभसूरि के शिष्य परिवार में अनेक विद्वान् मुनिजन हो चुके हैं जिनमें धर्मतिलक, सोमतिलक, मुनिशेखर, मुनिचन्द्र, अभयतिलक, जयशेखर, मेरुतुंगसूरि, अभयदेव, रत्नरंग आदि उल्लेखनीय हैं। इन शिष्यों में मुनिशेखर, जयशेखर और मेरुतुंग विशेष प्रसिद्ध हैं।

राधनपुर स्थित शान्तिनाथजिनालय में रखी सम्भवनाथ की एक प्रतिमा पर उत्कीर्ण लेख से ज्ञात होता है कि मुनिशेखर के उपदेश से वि०सं० १४६८ में इसकी प्रतिष्ठा हुई थी। श्री पार्श्व ने इस लेख की वाचना[१८] दी है, जो इस प्रकार है :

सं० १४६८ वर्षे का० २ सोमे श्रीश्रीमालज्ञातीय श्रे० कडूया भार्या ऊताया: सुता: श्री थाणारसी श्री .... भ्यां श्रीसंभवनाथबिंबं श्रीमुनिशेखरसूरीणामुंपदेशेन पित्रुः भातृ वीरपालश्रेयोर्थं कारापितं। वजाणाग्राम वास्तव्य:।।

इसी प्रकार वि०सं० १५१७ के एक प्रतिमालेख में प्रतिमाप्रतिष्ठा हेतु प्रेरक के रूप में मुनि जयशेखर का नाम मिलता है। आचार्य बुद्धिसागरसूरि ने सुमतिनाथ की प्रतिमा पर उत्कीर्ण उक्त लेख का मूलपाठ दिया है, जो निम्नानुसार है :

सं० १५१७ वर्षे फा० श्रीवीरवंशे श्रे० चांपा भार्या जासु पुत्रमालाकेन भ्रा० पद्मिजीभाई सहितेन अंचलगच्छे जयशेखरसूरीणामुपदेशेन स्वश्रेयसे श्रीसुमतिनाथबिंबं कारापितं।।

जैनधातुप्रतिमालेखसंग्रह, भाग १, लेखांक ६८८.

जयशेखरसूरि द्वारा रचित कृतियों में **जैनकुमारसम्भव**[१९] और **त्रिभुवनदीपकप्रबन्ध**[२०] विशेष उल्लेखनीय हैं। **जैनकुमारसम्भव** पर इनके शिष्य

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

धर्मशेखरगणि ने वि०सं० १४८३/ई०स० १४२७ में टीका की रचना की।[२१] आचार्य कलाप्रभसागरसूरि ने जयशेखरसूरि द्वारा रचित ५२ कृतियों का सविस्तार उल्लेख किया है।[२२] जयशेखरसूरि द्वारा रचित विभिन्न स्तुतियां भी मिलती हैं।[२३] जयशेखरसूरि के एक शिष्य मेरुचन्द्रगणि हुए जिनके उपदेश से विराटनगर के मन्त्री वाडव ने **रघुवंश, कुमारसम्भव** आदि महाकाव्यों तथा **योगप्रकाश, वीतरागस्तोत्र, विदग्धमुखमण्डन** आदि पर अवचूरि की रचना की।[२४] **जीरापल्लीपार्श्वनाथस्तोत्र** भी इन्हीं की कृति है।[२५] इसी मन्त्री ने वि०सं० १५०९ वैशाख सुदि १३ को एक जिनबिम्ब की भी प्रतिष्ठा की।[२६]

महेन्द्रप्रभसूरि के शिष्य एवं पट्टधर मेरुतुंगसूरि अपने समय के मूर्धन्य विद्वानों में से एक थे। इनके द्वारा रचित अनेक महत्त्वपूर्ण कृतियां प्राप्त होती हैं जिनमें **षड्दर्शनसमुच्चय, लघुशतपदी, जैनमेघदूतम, नेमिदूतमहाकाव्य, कातंत्रव्याकरण-बालावबोधवृत्ति** आदि उल्लेखनीय हैं।[२७] इनके उपदेश से कई नूतन जिनालयों का निर्माण हुआ और बड़ी संख्या में जिनप्रतिमाओं की प्रतिष्ठा हुई। ये प्रतिमायें वि०सं० १४४५ से वि०सं० १४७० तक की हैं। इनका विवरण इस प्रकार है—

वि०सं० १४४५	कार्तिक वदि ११ रविवार	जै०धा०प्र०ले०सं० भाग २ एवं	लेखांक ४०
		अं०ले०सं०	लेखांक ७
वि०सं० १४४६	ज्येष्ठ वदि ३ सोमवार	प्र०ले०सं० एवं	लेखांक १७१
		अं०ले०सं०	लेखांक ८, ४०१, ५११
वि०सं० १४४७	फाल्गुन सुदि ९ सोमवार	अं०ले०सं० एवं	लेखांक ९
		जै०ले०सं०, भाग १	लेखांक ६२८
वि०सं० १४४७	फाल्गुन सुदि ९ सोमवार	अं०ले०सं०	लेखांक ५१२
वि०सं० १४४९	आषाढ सुदि २ गुरुवार	अं०ले०सं० एवं	लेखांक ११
		जै०ले०सं०भाग १, और	लेखांक ९३
		जै०धा०प्र०ले०	लेखांक ५२

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वि॰सं॰ १४४९	वैशाख सुदि ६ शुक्रवार	अ॰ले॰सं॰ एवं	लेखांक १०
		श्री प्र॰ले॰सं॰	लेखांक ३४७
वि॰सं॰ १४५२	वैशाख सुदि ५	जै॰ले॰सं॰ भाग ३,	लेखांक २४१८
		अं॰ले॰सं॰	लेखांक १२
वि॰सं॰ १४५३	वैशाख सुदि ३	अं॰ले॰सं॰	लेखांक ५१४
वि॰सं॰ १५५४	ज्येष्ठ सुदि ७ बुधवार	अं॰ले॰सं॰	लेखांक ५१७
वि॰सं॰ १५५४	माघ वदि ९ शनिवार	अं॰ले॰सं॰ और	लेखांक ५१६
		बी॰जै॰ले॰सं॰	लेखांक ५६८
वि॰सं॰ १५५४	,,	अं॰ले॰सं॰ और	लेखांक ५१५
		बी॰जै॰ले॰सं॰	लेखांक ५६७
वि॰सं॰ १५५४	,,	रा॰प्र॰ले॰सं॰	लेखांक ८६
वि॰सं॰ १५५६	ज्येष्ठ वदि १३ शनिवार	जै॰धा॰प्र॰ले॰सं॰ भाग १ और	लेखांक ५८१
		अं॰ले॰सं॰	लेखांक १५
वि॰सं॰ १५५७	वैशाख सुदि ३ शनिवार	बी॰जै॰ले॰सं॰ और	लेखांक ५७६
		अं॰ले॰सं॰	लेखांक ५१९
वि॰सं॰ १५६६	वैशाख सुदि ३ सोमवार	अं॰ले॰सं॰ और	लेखांक ४६१, ४६२
		रा॰प्र॰ले॰सं॰	लेखांक ९२
वि॰सं॰ १५६६	माघ सुदि १३ रविवार	जै॰धा॰प्र॰ले॰सं॰ भागं १ एवं	लेखांक ८२३
		अं॰ले॰सं॰	लेखांक १६
वि॰सं॰ १५६७	माघ सुदि ५ शुक्रवार	अं॰ले॰सं॰ एवं	लेखांक ४०३
		अ॰प्र॰जै॰ले॰सं॰	लेखांक ६१०

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वि०सं० १४६८	कार्तिक वदि २ सोमवार	अं०ले०सं०	लेखांक १८
वि०सं० १४६८	माघ सुदि १० बुधवार	बी०जै०ले०सं० एवं	लेखांक १५९६
		अं०ले०सं०	लेखांक ५२०
वि०सं० १४६९	माघ वदि ५	रा०ले०सं० एवं	लेखांक ९४
		अं०ले०सं०	लेखांक ४६४
वि०सं० १४६९	माघ सुदि ६ रविवार	जै०ले०सं० भाग १, एवं	लेखांक २
		अं०ले०सं० और	लेखांक २१
		बी०जै०ले०सं०	लेखांक ६४६
वि०सं० १४६९	फाल्गुन वदि २ शनिवार	जै०ले०सं० भाग २ एवं	लेखांक १३५९
		अं०ले०सं०	लेखांक २०
वि०सं० १४७०	चैत्र सुदि ८ गुरुवार	जै०धा०प्र०ले०सं० भाग १ एवं	लेखांक ८५२
		अं०ले०सं०	लेखांक २२

मेरुतुंगसूरि के १८ शिष्यों का उल्लेख प्राप्त होता है जिनमें जयकीर्तिसूरि, माणिक्यशेखरसूरि, माणिक्यसुन्दरसूरि, रत्नशेखर, महीतिलक, गुणसमुद्र, भुवनतुंगसूरि 'द्वितीय' (अंचलगच्छ की तुंगशाखा के प्रवर्तक), जयतिलक, उपाध्याय धर्मशेखर, उपाध्याय धर्मनन्दन, ईश्वरगणि आदि उल्लेखनीय हैं।[२८]

मेरुतुंगसूरि के वि०सं० १४७१ में निधन होने के पश्चात् उनके शिष्य जयकीर्तिसूरि पट्टधर बने। इनके द्वारा रचित **उत्तराध्ययनदीपिकावृत्ति, वैराग्यगीत, क्षेत्रसमासटीका, संग्रहणीटीका, पार्श्वदेवस्तोत्र** आदि कृतियों का उल्लेख मिलता है जिसमें से **क्षेत्रसमासटीका** और **संग्रहणीटीका** को छोड़कर अन्य सभी कृतियां आज उपलब्ध हैं।[२९] आचार्य जयकीर्तिसूरि की प्रेरणा से वि०सं० १४७३ से १५०१ के मध्य प्रतिष्ठापित जिनप्रतिमायें प्राप्त हुई हैं, जिनकी संख्या ५० से ऊपर है। इनका संक्षिप्त विवरण निम्नानुसार है —

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वि०सं० १४७१	माघ सुदि १० शनिवार	जै०धा०प्र०ले०सं० भाग २ एवं	लेखांक ५५६
		अं०ले०सं०	लेखांक २६
वि०सं० १४७३	वैशाख वदि ७ शनिवार	जै०धा०प्र०ले०सं० भाग २ एवं	लेखांक ५७६
		अं०ले०सं०	लेखांक २८
वि०सं० १४७६	वैशाख वदि १२ शनिवार	बी०जै०ले०सं०	लेखांक ६७९
वि०सं० १४७६	मार्गशीर्ष सुदि १० रविवार	जै०ले०सं० भाग ३ एवं	लेखांक २२१६
		अं०ले०सं०	लेखांक २९
वि०सं० १४८०	फाल्गुन सुदि १० बुधवार	श०गि०द०	लेखांक ३३५
वि०सं० १४८१	वैशाख सुदि ८ शुक्रवार	जै०ले०सं० भाग १ एवं	लेखांक ४११
		अं०ले०सं०	लेखांक ३२
वि०सं० १४८१	माघ सुदि ५ सोमवार	जै०धा०प्र०ले०सं० भाग १ एवं	लेखांक १५०९
		अं०ले०सं०	लेखांक ३०
वि०सं० १४८१	फाल्गुन वदि ६ गुरुवार	जै०धा०प्र०ले०सं० भाग १ एवं	लेखांक १३६
		अं०ले०सं०	लेखांक ३१
वि०सं० १४८२	फाल्गुन... रविवार	अ०प्र०जै०ले०सं० एवं	लेखांक १२९
		अं०ले०सं०	लेखांक ३३
वि०सं० १४८२	वैशाख वदि ५ गुरुवार	जै०ले०सं० भाग २ एवं	लेखांक १०७१
		अं०ले०सं०	लेखांक ३५
वि०सं० १४८३	,,	जै०ले०सं० भाग ३ एवं	लेखांक २२९६
		अं०ले०सं०	लेखांक ३४

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वि०सं० १४८३	वैशाख वदि १३ गुरुवार	श्री०प्र०ले०सं०	लेखांक ३००
वि०सं० १४८३	,,	अ०प्र०जै०ले०सं० एवं	लेखांक १५३
		अं०ले०सं०	लेखांक ४४
वि०सं० १४८३	,,	अ०प्र०जै०ले०सं०	लेखांक १४७
वि०सं० १४८३	,,	,,	लेखांक १४८
वि०सं० १४८३	,,	,,	लेखांक १४९
वि०सं० १४८३	,,	,,	लेखांक १४५
वि०सं० १४८३	,,	,,	लेखांक १४६
वि०सं० १४८३	तिथिविहीन	,,	लेखांक १५०
वि०सं० १४८३	वैशाख वदि १३ गुरुवार	श्री०प्र०ले०सं०	लेखांक २९४
वि०सं० १४८३	,,	,,	लेखांक २९५अ
वि०सं० १४८३	,,	,,	लेखांक २९५ब
वि०सं० १४८३	,,	,,	लेखांक २९६
वि०सं० १४८३	,,	,,	लेखांक २९७
वि०सं० १४८३	,,	,,	लेखांक २९८
वि०सं० १४८३	तिथिविहीन	,,	लेखांक २९९
वि०सं० १४८३	वैशाख वदि १३ गुरुवार	,, एवं	लेखांक ३०१
		अ०प्र०जै०ले०सं०	लेखांक १५२
वि०सं० १४८३	,,	अ०प्र०जै०ले०सं०	लेखांक १४४
वि०सं० १४८४	वैशाख सुदि २ शनिवार	जै०धा०प्र०ले०सं०, भाग २	लेखांक ५०२
वि०सं० १४८४	वैशाख सुदि ३	प्रा०ले०सं०	लेखांक १२९

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वि०सं० १४८६	वैशाख सुदि २ सोमवार	रा०प्र०ले०सं० एवं	लेखांक ११६
		अं०ले०सं०	लेखांक ४६६
वि०सं० १४८६	,,	श०गि०द०	लेखांक ४२३
वि०सं० १४८७	पौष सुदि २ रविवार	श्री०प्र०ले०सं० एवं	लेखांक २७७
		अं०ले०सं०	लेखांक ४७
वि०सं० १४८७	माघ सुदि ५ गुरुवार	जै०धा०प्र०ले०सं० भाग १ एवं	लेखांक १८०
		अं०ले०सं०	लेखांक ४९
वि०सं० १४८७	,,	जै०धा०प्र०ले०सं० भाग २ एवं	लेखांक ७३
		अं०ले०सं०	लेखांक ४८
वि०सं० १४८८	कार्तिक सुदि ३ बुधवार	श्री०प्र०ले०सं० एवं	लेखांक २३७
		अं०ले०सं०	लेखांक ५०
वि०सं० १४८८	तिथिविहीन	जै०धा०प्र०ले०सं० भाग १	लेखांक ४७२
वि०सं० १४८९	पौष सुदि १२ शनिवार	बी०जै०ले०सं०	लेखांक ७४२
वि०सं० १४८९	माघ सुदि ५ सोमवार	रा०प्र०ले०सं० एवं	लेखांक ११७
		अं०ले०सं०	लेखांक ४६७
वि०सं० १४९०	वैशाख सुदि ३ सोमवार	जै०धा०प्र०ले०सं० भाग २ एवं	लेखांक ८८६
		अं०ले०सं०	लेखांक ५२
वि०सं० १४९०	तिथिविहीन	जै०ले०सं० भाग २ एवं	लेखांक १२४२
		अं०ले०सं०	लेखांक ५१
वि०सं० १४९१	ज्येष्ठ वदि ५ शुक्रवार	अं०ले०सं०	लेखांक ४०८

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi.

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वि०सं० १४९१	,,	प्र०ले०सं०	लेखांक २८७
वि०सं० १४९१	माघ सुदि ५ बुधवार	जै०धा०प्र०ले०सं० भाग २ एवं	लेखांक ९४३
		अं०ले०सं०	लेखांक ५३
वि०सं० १४९१	माघ सुदि ६	श०वै०	लेखांक ७२
वि०सं० १४९३	माघ सुदि ५ शुक्रवार	प्र०ले०सं० एवं	लेखांक २९६
		अं०ले०सं०	लेखांक ४०९
वि०सं० १४९३	फाल्गुन वदि ११ गुरुवार	अं०ले०सं०	लेखांक ५४
वि०सं० १४९३	तिथि नष्ट	श०वै०	लेखांक ७५
वि०सं० १४९४	माघ सुदि ११	जै०ले०सं० भाग २ एवं	लेखांक २०५१
		अं०ले०सं०	लेखांक ५५
वि०सं० १४९५	ज्येष्ठ सुदि १४	बी०जै०ले०सं०	लेखांक १९५९
वि०सं० १४९८	पौष सुदि १२ शनिवार	,,	लेखांक ८०२
वि०सं० १४९८	फाल्गुन सुदि ७ शनिवार	अं०ले०सं०	लेखांक ५६
वि०सं० १४९९	वैशाख वदि ५ गुरुवार	जै०धा०प्र०ले०सं० भाग १ एवं	लेखांक ६९
		अं०ले०सं०	लेखांक ५८
वि०सं० १४९९	कार्तिक सुदि १२ सोमवार	जै०धा०प्र०ले०सं० भाग २ एवं	लेखांक ७१
		अं०ले०सं०	लेखांक ५७
वि०सं० १५०१	वैशाख वदि ९ शनिवार	श्री०प्र०ले०सं० एवं	लेखांक १६
		अं०ले०सं०	लेखांक ५९
वि०सं० १५०१	फाल्गुन सुदि १२ शुक्रवार...?	अं०ले०सं०	लेखांक ६०

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वि०सं० १५०१	फाल्गुन सुदि १२ गुरुवार	बी०जै०ले०सं०	लेखांक ८५५
वि०सं० १५०१	फाल्गुन सुदि १२ गुरुवार	प्रा०ले०सं०	लेखांक १८२

जैसा कि पीछे हम देख चुके हैं, पट्टावलियों के अनुसार वि०सं० १५०० में आचार्य जयकीर्तिसूरि का देहान्त हुआ, जबकि अभिलेखीय साक्ष्यों के अनुसार वि०सं० १५०१ फाल्गुन सुदि १२ को उनके उपदेश से जिनप्रतिमाओं की प्रतिष्ठा हुई है। इस आधार पर पट्टावलियों के उक्त विवरण को स्वीकार करने में कठिनाई उत्पन्न होती है।

आचार्य जयकीर्तिसूरि के विभिन्न शिष्यों का उल्लेख प्राप्त होता है जिनके बारे में संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है :

१. महीतिलकसूरि

वि०सं० १४७१ के तीन प्रतिमालेखों में इनका नाम मिलता है। इन लेखों की वाचना निम्नानुसार है —

सम्वत् १४७१ वर्षे आषाढ़ सुदि २ शनौ श्रीमाली श्रे० सूरा चांपाभ्यां भगिनी काउं भगिनीपुत्री वइराकयोः श्रेयोर्थं तयोरेव द्रव्येन।। श्री अंचलगच्छे ।। श्रीमहीतिलकसूरीणामुपदेशेन श्रीधर्मनाथबिंबं कारितं प्रतिष्ठितं च।

धर्मनाथ की प्रतिमा पर उत्कीर्ण लेख

मुनिसुव्रत जिनालय, सैलाना

अंचलगच्छीयलेखसंग्रह, लेखांक ४०५।

सं० १४७१ वर्षे माघ सुदि १० शनौ प्राग्वाटवंशे विसा २० व्य० दोणशाखा उ० सोला पु०ठ० षीमा पु०ठ० उदयसिंह पु०ठ० लडा भा० हकू पु०सा० झांबटेन श्रीअंचलगच्छे श्रीमहीतिलकसूरीणामुपदेशेन पित्रोः श्रेयसे श्रीमुनिसुव्रतस्वामिमुख्यश्चतुर्विंशतिपट्टः कारितः प्रतिष्ठितश्च।

मुंनिसुव्रत की धातु की चौबीसी प्रतिमा पर उत्कीर्ण लेख

मनमोहन पार्श्वनाथ जिनालय, बड़ोदरा

अंचलगच्छीयलेखसंग्रह, लेखांक २५.

सं० १४७१ वर्षे माघ सुदि १० शनौ श्रीमाली सा० आसघर (आसधर) भा० तिलू पुत्रेण सा० हांसाकेन पितुः श्रेयसे श्रीअंचलगच्छे श्रीमहीतिलकसूरीणामुपदेशेन

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

श्रीअजितनाथबिंबं कारितं प्रतिष्ठितं च।।

अजितनाथ की धातुप्रतिमा का लेख

चिन्तामणिपार्श्वनाथ जिनालय, खम्भात

अंचलगच्छीयलेखसंग्रह, लेखांक २६.

२. **मेरुनन्दनसूरि** : इन्होंने बीसविहरमानस्तवन की रचना की।[३०]

३. **पं० महीनन्दनगणि** : वि०सं० १४६३/ई०स० १४०७ में इनके पठनार्थ कालकाचार्यकथा[३१] की प्रतिलिपि की गयी।

४. **लावण्यकीर्ति** : इनसे अंचलगच्छ की कीर्तिशाखा अस्तित्त्व में आयी।[३२]

५. **पं० क्षमारत्न**

६. **रत्नसिंहसूरि** : पायधुनी- मुम्बई स्थित गौडीजी जिनालय में रखी शीतलनाथ की प्रतिमा पर उत्कीर्ण वि०सं० १४९६ के लेख में प्रतिमाप्रतिष्ठापक के रूप में इनका नाम मिलता है।[३३] यह प्रतिमा आचार्य जयकीर्तिसूरि के उपदेंश से प्रतिष्ठापित की गयी थी। श्रीपार्श्व ने इस लेख की वाचना दी है, जो इस प्रकार है :

सम्वत् १४९६ वर्षे फागुण सुदि २ शुक्रे श्रीश्रीमाल ज्ञातीय मं० कडूया भार्या गउरी पुत्र श्रे० पर्वतेन भा० अमरी युतेन श्रीअंचलगच्छेश श्रीश्री जयकीर्तिसूरीणामुपदेशेन स्वमातु श्रेयसे श्री शीतलनाथबिंबं कारितं प्रतिष्ठितं श्रीरत्नसिंहसूरिभि:।।

७. **शीलरत्न** : इन्होंने वि०सं० १४९१/ई०स० १४३५ में अणहिलपुरपत्तन में **जैनमेघदूतकाव्य** पर संस्कृत भाषा में टीका की रचना की।[३४] इनके द्वारा रचित कुछ स्तोत्र भी प्राप्त होते हैं।[३५] **स्तुतिचौरासी** भी इन्हीं की कृति मानी जाती है।[३६]

८. **जयकेशरीसूरि** : पट्टधर

९. **महीमेरुगणि** : इनके द्वारा रचित **क्रियागुप्ता** अपरनाम **जिनस्तुति-पंचाशिका**,[३७] **कल्पसूत्रअवचूरि**,[३८] **मेघदूतटीका**[३८अ] आदि कृतियाँ प्राप्त होती हैं।

जयकीर्तिसूरि के समकालीन अंचलगच्छीय अन्य मुनिजन

आचार्य कलाप्रभसागरसूरि ने विभिन्न साक्ष्यों के आधार पर जयकीर्तिसूरि के समकालीन जिन मुनिजनों का उल्लेख है[३९] उनके नाम इस प्रकार हैं —

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

१. धर्मशेखरसूरि
२. महीतिलकसूरि
३. माणिक्यशेखरसूरि
४. माणिक्यसुन्दरसूरि
५. माणिक्यकुंजरसूरि
६. महीनन्दनगणि
७. मानतुंगसूरि
८. मेरुनन्दनसूरि
९. भुवनतुंगसूरि
१०. उपाध्याय धर्मनन्दनगणि

आचार्य जयकीर्तिसूरि के पट्टधर जयकेशरीसूरि हुए। अंचलगच्छीय पट्टावलियों के अनुसार वि०सं० १४६१ (१४७१....?) में इनका जन्म हुआ, वि०सं० १४७५ में इन्होंने दीक्षा ग्रहण की और वि०सं० १५०१ में गच्छनायक बने। जयकेशरीसूरि अपने समय के प्रभावक जैनाचार्यों में से एक थे। इनके द्वारा रचित **आदिनाथस्तोत्र** नामक कृति प्राप्त होती है।[४०] इनके उपदेश से प्रतिष्ठापित जिनप्रतिमायें सर्वाधिक संख्या में प्राप्त हुई हैं जो वि०सं० १५०१ से लेकर वि०सं० १५३९ तक की हैं। इनका संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है :

वि०सं०	**प्रतिष्ठापित प्रतिमाओं की संख्या**
१५०१	१
१५०२	२
१५०३	३
१५०४	४
१५०५	७
१५०८	७
१५०९	११
१५१०	६
१५११	३

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

१५१२	४
१५१३	८
१५१५	१०
१५१६	१
१५१७	११
१५१८	१
१५१९	७
१५२०	४
१५२१	४
१५२२	७
१५२३	६
१५२४	५
१५२५	५
१५२६	३
१५२७	९
१५२८	९
१५२९	८
१५३०	६
१५३१	७
१५३२	६
१५३३	३
१५३४	१
१५३५	६
१५३६	३
१५३७	५
१५३९	१
योग	१६४

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

विभिन्न साहित्यिक और अभिलेखीय साक्ष्यों से जयकेशरीसूरि के कई शिष्यों के बारे में जानकारी प्राप्त होती है, जो इस प्रकार है :

१. कीर्तिवल्लभगणि : इनके द्वारा रचित **उत्तराध्ययनवृत्ति** नामक एकमात्र कृति प्राप्त होती है, जो वि०सं० १५५२ में रची गयी है।[४१]

२. महीसागर उपाध्याय : इन्होंने गूर्जर भाषा में वि०सं० १४९८ में **षडावश्यकविधि** अपरनाम **साधुप्रतिक्रमण** की रचना की।[४२]

३. धर्मशेखरगणि : वि०सं० १५०९ में लिखी गयी **प्रतिक्रमणसूत्र** की पुष्पिका में इनका नाम मिलता है जिसके आधार पर श्रीपार्श्व ने इन्हें जयकेशरीसूरि का शिष्य बतलाया है।[४३]

धर्मशेखरगणि के शिष्य उदयसागरगणि ने **उत्तराध्ययनसूत्र** पर वि०सं० १५४६ में ८५०० श्लोक परिमाण **दीपिका** की रचना की।[४४] इनकी अन्य कृतियां **शांतिनाथचरित,**[४५] **कल्पसूत्रअवचूरि**[४६] आदि हैं।

४. भावसागरसूरि : वि०सं० १५१२ के एक प्रतिमालेख में प्रतिमाप्रतिष्ठपक मुनि के रूप में इनका उल्लेख मिलता है। श्री पार्श्व ने इस लेख की वाचना दी है,[४७] जो इस प्रकार है :

ॐ संवत् १५१२ वर्षे फागुण सुदि ७ सो० (शु०) गांधीगोत्रे ऊसवंशे। सा० सारिंग सुत फेरु भा० सूहवदे पुत्री बाई सोनाई पुण्यार्थं श्रीअजितनाथबिंबं कारापितं श्रीअंचलगच्छे। प्रतिष्ठितं। श्री भावसागरसूरिभिः।

श्री पार्श्व ने इन्हें जयकेशरीसूरि का शिष्य बतलाया है।[४८] चूंकि उक्त प्रतिमालेख में कहीं भी ऐसी बात नहीं कही गयी है, जिससे कि श्रीपार्श्व के उक्त कथन का समर्थन हो सके; अतः ऐसी स्थिति में उक्त अभिलेख के आधार पर उनके मत को स्वीकार कर पाना कठिन है।

अंचलगच्छ के १५वें पट्टधर के रूप में भी भावसागरसूरि का नाम मिलता है, जो जयकेशरीसूरि के प्रशिष्य और सिद्धान्तसागरसूरि के शिष्य थे। वि०सं० १५१० में इनका जन्म हुआ, वि०सं० १५२० में इन्होंने मुनिदीक्षा प्राप्त की। वि०सं० १५६० में इन्हें आचार्य और गच्छेश पद प्राप्त हुआ एवं वि०सं० १५८३ में इनका देहान्त हो गया।[४९]

भावसागरसूरि नामधारी उक्त दोनों मुनिजनों को समय के अन्तराल आदि बातों को देखते हुए अलग-अलग व्यक्ति मानने में कोई बाधा नहीं दिखाई देती।

वि०सं० १५१९ के एक प्रतिमालेख में भी भावसागरसूरि का नाम मिलता है,

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जो निश्चय ही वि०सं० १५१२ के उक्त प्रतिमालेख में उल्लिखित भावसागरसूरि से अभिन्न हैं। लेख का मूलपाठ निम्नानुसार है :

सं० १५१९ वैशाख वदि १ गुरौ श्रीश्रीवंशे श्रे० तोजा भा० सोमाई पु० जावड .... श्रेयसे श्रीअंचलगच्छे श्रीभावसागरसूरीणामु० श्रीमुनिसुव्रतस्वामिबिंबं कारितं प्रतिष्ठितं श्रीसंघेन।।

मुनिसुव्रत की धातुप्रतिमा पर उत्कीर्ण लेख, वासुपूज्य जिनालय, सुरेन्द्रनगर

अंचलगच्छीयलेखसंग्रह, लेखांक ६२०.

कवि पेथो

ये जयकेशरीसूरि के श्रावक शिष्य थे। इनके द्वारा गुजराती भाषा में रचित **''पार्श्वनाथ दसभव विवाहलो''** नामक कृति प्राप्त होती है।[५०] रचना के अन्त में प्रशस्ति के अन्तर्गत इन्होंने अपने गुरु का सादर स्मरण किया है। मुनिसुव्रत जिनालय खम्भात में रखी श्रेयांसनाथ की धातु-प्रतिमा पर उत्कीर्ण लेख में भी पेथो का अंचलगच्छीय श्रावक के रूप में नाम मिलता है।[५१] यह प्रतिमा आचार्य जयकेशरीसूरि के उपदेश से श्रीसंघ द्वारा प्रतिष्ठापित की गयी थी। लेख का मूलपाठ इस प्रकार है—

संवत् १५१२ फाल्गुन सुदि ८ शनौ श्रीमालज्ञातीय पं० नरूआ भार्या वाछी पुत्र कूरणा मं........... जणसी प्रमुखस्वकुटुंबसहितेन पं० पेथासुश्रावकेन भार्या बीरू संजितेन च निजश्रेयसे श्रीअंचलगच्छे श्रीजयकेशरीसूरीणामुपदेशेन श्रीश्रेयांसनाथबिंबं कारितं प्रतिष्ठितं श्रीसंघेन।।

पार्श्वनाथदसभवविवाहलो के रचनाकार पेथो और उक्त प्रतिमालेख में उल्लिखित पं०पेथा को समसामयिकता, नामसाम्य आदि को दृष्टिगत रखते हुए एक व्यक्ति माना जा सकता है। श्री पार्श्व का भी यही मत है।[५२]

वि०सं० १५४१ में जयकेशरीसूरि के निधन के पश्चात् सिद्धान्तसागरसूरि अंचलगच्छ के नायक बने। पट्टावलियों के अनुसार वि०सं० १५०६ में इनका जन्म हुआ, वि०सं० १५१२ में इन्होंने दीक्षा ली, वि०सं० १५४१ में ये गुरु के पट्टधर बने और वि०सं० १५६० में इनका निधन हो गया।

सिद्धान्तसागरसूरि द्वारा रचित **चतुर्विंशतिस्तव** नामक कृति प्राप्त होती है।[५३] वि०सं० १५४२ से वि०सं० १५६० तक प्रतिष्ठापित अंचलगच्छ से सम्बद्ध प्रतिमालेखों में इनका नाम मिलता है।[५४]

सिद्धान्तसागरसूरि के समय तक अंचलगच्छ में विभिन्न शाखायें अस्तित्त्व में आ चुकी थीं। जैसे कमलरूप से **रूप शाखा,** धर्मलाभ से **लाभ शाखा,** भाववर्धन से

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वर्धनशाखा आदि। वर्धन शाखा के प्रवर्तक भाववर्धन का वि०सं० १५५६ में प्रतिष्ठापित चन्द्रप्रभस्वामी की प्रतिमा पर उत्कीर्ण लेख में प्रतिमाप्रतिष्ठा हेतु उपदेशक के रूप में उल्लेख मिलता है —

सं० १५५६ वर्षे चैत्र सुदि ७ सोम प्राग्वाटज्ञातीय सा० चान्दा भार्या सलखणदे पु० लोलाबाई मापाता सा० खीमा भार्या खेतलदे सकुटुम्बयुतेन आत्मपु० श्रीचन्द्रप्रभस्वामिबिंबं का० श्रीअंचलगच्छे श्रीसिद्धान्तसागरसूरि विद्यमाने वा० भाववर्धनगणिनामुपदेशेन प्रतिष्ठितं श्रीसंघेन मुन्नडावास्तव्य।।

अंचलगच्छीयप्रतिष्ठालेखो, लेखांक २४०

इसी लेखसंग्रह में लेखांक ४३४ पर भी यही पाठ दिया गया है, अन्तर केवल यही है कि चैत्र के स्थान पर वैशाख लिखा हुआ है। दोनों पाठों में कौन-सा पाठ सही है इसे ज्ञात करने के लिये हमारे पास इस सम्बन्ध में कोई भी प्रमाण उपलब्ध नहीं है।

सिद्धान्तसागरसूरि के गुरुभ्राता धर्मशेखर के शिष्य उदयसागर[५५] भी एक विद्वान् मुनि थे। इनके द्वारा रची गयी तीन कृतियां आज मिलती हैं, जो निम्नानुसार हैं :

१. **उत्तराध्ययनसूत्रदीपिका :** रचना काल वि०सं० १५४६/ई०सन् १४९०; भाषा संस्कृत- ८५०० श्लोक परिमाण

२. **शांतिनाथचरित :** २७०० श्लोक परिमाण

३. **कल्पसूत्रअवचूरि :** २०८५ श्लोक परिमाण

सिद्धान्तसागरसूरि के निधन के पश्चात् वि०सं० १५६० में अंचलगच्छ के १५वें पट्टधर के रूप में भावसागरसूरि का नाम मिलता है। इनके द्वारा प्राकृत भाषा में रचित २३१ गाथापरिमाण **वीरवंशावली** नामक कृति प्राप्त होती है। इसमें रचनाकार ने प्रारम्भ से लेकर अपने गुरु सिद्धान्तसागरसूरि तक का प्रामाणिक विवरण प्रस्तुत किया है जो इस गच्छ के प्रारम्भिक इतिहास के अध्ययन के लिये अत्यन्त उपयोगी है। मुनिजिनविजय ने इसे स्वसम्पादित **विविधगच्छीयपट्टावलीसंग्रह**[५६] में प्रकाशित किया है।

भावसागरसूरि के उपदेश से प्रतिष्ठापित ४५ से अधिक जिनप्रतिमायें प्राप्त हुई हैं जो वि०सं० १५६० से लेकर वि०सं० १५८१ तक की हैं। इनका संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है :

वि०सं० १५६०	६ प्रतिमालेख
वि०सं० १५६१	४ प्रतिमालेख
वि०सं० १५६३	३ प्रतिमालेख

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वि०सं० १५६४	३ प्रतिमालेख
वि०सं० १५६५	३ प्रतिमालेख
वि०सं० १५६६	२ प्रतिमालेख
वि०सं० १५६७	२ प्रतिमालेख
वि०सं० १५६८	३ प्रतिमालेख
वि०सं० १५६९	३ प्रतिमालेख
वि०सं० १५७०	३ प्रतिमालेख
वि०सं० १५७३	४ प्रतिमालेख
वि०सं० १५७४	१ प्रतिमालेख
वि०सं० १५७६	३ प्रतिमालेख
वि०सं० १५७९	१ प्रतिमालेख
वि०सं० १५८०	२ प्रतिमालेख

विस्तार के लिये द्रष्टव्य— **अंचलगच्छीयलेखसंग्रह,** लेखांक, २४१-६५, ४१४, ७०४-३१।

सिद्धान्तसागरसूरि के दूसरे शिष्य सुमतिसागर से अंचलगच्छ की गोरक्ष शाखा अस्तित्त्व में आयी। इस शाखा में भी कई विद्वान् मुनि हो चुके हैं जिनके बारे में यथास्थान प्रकाश डाला गया है।

भावसागरसूरि के पट्टधर गुणनिधानसूरि हुए। इनके द्वारा रचित न तो कोई साहित्य प्राप्त होता है और न ही किन्हीं अन्य साक्ष्यों में इनके किसी कृति का उल्लेख ही मिलता है। इनके उपदेश से श्रावकों द्वारा प्रतिष्ठापित जिनप्रतिमायें भी अंचलगच्छीय पूर्वाचार्यों की तुलना में कम हैं। ये प्रतिमायें वि०सं० १५७९ से वि०सं० १६०० तक की हैं। इनका विवरण इस प्रकार है —

वि०सं० १५७९	१ प्रतिमालेख
वि०सं० १५८४	२ प्रतिमालेख
वि०सं० १५८७	४ प्रतिमालेख
वि०सं० १५९८	१ प्रतिमालेख
वि०सं० १५९१	२ प्रतिमालेख

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वि०सं० १६०० २ प्रतिमालेख

विस्तार के लिए द्रष्टव्य— **अंचलगच्छीयलेखसंग्रह**, लेखांक २६८, २६९, २७०-७४, ७३२, ७३५, ७३७-३८।

गुणनिधान के एक शिष्य हर्षनिधान हुए, जिनके द्वारा रचित **रत्नसंचय** नामक कृति प्राप्त होती है।[५६अ]

वि०सं० १६०० में गुणनिधानसूरि के निधन के पश्चात् उनके पट्टधर धर्ममूर्तिसूरि हुए। अमरसागरसूरिकृत पट्टावली के अनुसार इन्होंने **षडावश्यकवृत्ति** तथा **गुणस्थानक्रमावरोहबृहद्वृत्ति** की रचना की।[५७] **श्रावकप्रतिक्रमणसूत्र** अपरनाम **वृद्धचैत्यवन्दन** और **प्रद्युम्नचरित** भी इन्हीं की कृति मानी जाती है।[५८]

इनके उपदेश से विभिन्न ग्रन्थ भण्डारों का पुनरुद्धार हुआ। अनेक प्राचीन और महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों की प्रतिलिपियां करायी गयीं। इनके उपदेश से प्रतिष्ठापित कुछ जिनप्रतिमायें भी प्राप्त हुई हैं, जिनका विवरण इस प्रकार है —

वि०सं० १६०३	वैशाख सुदि ३	अं०ले०सं०, लेखांक ४३६
वि०सं० १६२९	माघ सुदि १३ बुधवार	वही, लेखांक २७९
वि०सं० १६४४	फाल्गुन सुदि २ रविवार	वही, लेखांक २८०
वि०सं० १६५४	माघ वदि ९ रविवार	वही, लेखांक २८१-८२

धर्ममूर्तिसूरि के शिष्यों-प्रशिष्यों में कई प्रसिद्ध रचनाकार हो चुके हैं। इनके द्वारा रचित विभिन्न उपलब्ध कृतियों से इस सम्बन्ध में महत्त्वपूर्ण जानकारी प्राप्त होती है।

वि०सं० १६०५ में रची गयी **वैराग्यवीनती** की प्रशस्ति में रचनाकार सहजरत्न ने स्वयं को धर्ममूर्तिसूरि का शिष्य बतलाया है।[५९] इसी प्रकार वि०सं० १६२४ में रची गयी **गजसुकुमारसन्धि** के रचनाकार मूलावाचक ने स्वयं को धर्ममूर्तिसूरि का प्रशिष्य और वा०रत्नप्रभ का शिष्य कहा है।[६०]

धर्ममूर्तिसूरि के एक शिष्य हेमशील हुए जिनके द्वारा रचित कोई कृति तो नहीं मिलती; किन्तु उनके शिष्य विजयशील ने वि०सं० १६४१ में **उत्तमचरित-ऋषिराजचौपाई** की रचना की।[६१] विजयशील के एक शिष्य दयाशील हुए जिन्होंने वि०सं० १६६४/ ई०स० १६०८ के आसपास **अन्तरंगकुटुम्बगीत** की रचना की।[६२] इनके द्वारा रचित एक अन्य कृति **कायाकुटुम्बसज्झायस्तवन** भी प्राप्त होती है।[६३] विजयशील के एक अन्य शिष्य जसकीर्ति हुए जिन्होंने अंचलगच्छीय श्रावक कुंवरपाल सोनपाल द्वारा वि०सं० १६७०/ई०स० १६१४ में तीर्थयात्रा हेतु निकाले गये संघ का विस्तृत एवं ऐतिहासिक विवरण अपनी महत्त्वपूर्ण कृति **सम्मेतशिखररास** में प्रस्तुत किया है।[६४]

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

धर्ममूर्तिसूरि के एक अन्य शिष्य विमलमूर्ति के बारे में भी जानकारी प्राप्त होती है। इनके द्वारा रचित कोई कृति तो नहीं मिलती, यही बात इनके शिष्य गुणमूर्ति के बारे में भी कही जा सकती है; किन्तु इनके प्रशिष्य ज्ञानमूर्ति ने वि०सं० १६९४/ ई०सन् १६३८ में **रूपसेनराजर्षिचौपाई** की रचना की जिसकी प्रशस्ति से उक्त बात ज्ञात होती है।[६५] इसी प्रकार धर्ममूर्तिसूरि के एक अन्य शिष्य भानुलब्धि द्वारा कोई कृति नहीं मिलती; किन्तु उनके शिष्य मेघराज द्वारा रचित वि०सं० १६७० में रचित **सत्तरभेदीपूजा** नामक कृति प्राप्त होती है जिसकी प्रशस्ति में रचनाकार ने अपने गुरु-प्रगुरु आदि का सादर उल्लेख किया है।[६६] कल्याणसागरसूरि भी धर्ममूर्तिसूरि के ही शिष्य थे जो उनके निधनोपरान्त अंचलगच्छ के नायक बने। इस प्रकार उक्त साक्ष्यों के आधार पर धर्ममूर्तिसूरि के शिष्यों-प्रशिष्यों की एक तालिका निर्मित की जा सकती है, जो इस प्रकार है —

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

- गुणनिधानसूरि
  - धर्ममूर्तिसूरि
    - हेमशील
      - विजयशील (वि॰सं॰ १६४१ में उत्तमचरित-ऋषिराजचौपाई के कर्त्ता)
        - जसकीर्ति (वि॰सं॰ १६७० के पश्चात् सम्मेतशिखररास के कर्त्ता)
        - दयाशील (वि॰सं॰ १६६४ के आस-पास अन्तरंगकुटुम्बगीत एवं कायाकुटुम्बसज्झायस्तवन के कर्त्ता)
    - भानुलब्धि
      - मेघराज (सत्तरभेदीपूजा के कर्त्ता)
    - उपाध्यायविमलमूर्ति
      - वा॰ गुणमूर्ति
        - पं॰ ज्ञानमूर्ति (वि॰सं॰१६९४ में रूपसेनराजर्षिचौपाई के रचनाकार)
    - वा॰रत्नप्रभ
      - मूलावाचक (वि॰सं॰ १६२४ में गजसुकुमालसंधि के कर्त्ता)
    - सहजरत्न (वि॰सं॰१६०५ में वैराग्यवीनती के रचनाकार)
    - कल्याणसागरसूरि (पट्टधर)
  - हर्षनिधान (रत्नसंचय के रचनाकार)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आचार्य धर्ममूर्तिसूरि के निधन के पश्चात् कल्याणसागरसूरि उनके पट्टधर बने। विंभिन्न पट्टावलियों में धर्ममूर्तिसूरि का देहावसान काल वि०सं० १६७० दिया गया है, परन्तु कल्याणसागरसूरि की विद्यमानता में रायमल्लगणि के शिष्य मुनि लाखा द्वारा रचित **गुरुपट्टावली** के अनुसार वि०सं० १६७१ में पाटण में आचार्य धर्ममूर्तिसूरि का देहान्त हुआ और इसी वर्ष पौष वदि ११ को कल्याणसागरसूरि गच्छाधिपति बनाये गये।[६७] पट्टावलियों में इनके सम्बन्ध में महत्त्वपूर्ण विवरण प्राप्त होते हैं। इनके समय में जैन समाज में पारस्परिक तनाव चरम सीमा पर था; किन्तु ये भेदमूलक प्रवृत्तियों से सदैव दूर रहकर स्वगच्छ सम्पोषण में ही अनुरक्त रहे। गुजरात, कच्छ और राजस्थान तक इनका विहार क्षेत्र रहा।

नव्यनगर (नवानगर) के निवासी राजमान्य श्रेष्ठी राजसी शाह (राजसिंह शाह) कल्याणसागरसूरि के परम भक्त थे। इन्होंने नवानगर में एक भव्य जिनालय बनवाया[६८] और उसमें वि०सं० १६७२ में कल्याणसागरसूरि की निश्रा में बड़ी संख्या में जिन प्रतिमाओं की अंजनशलाका सम्पन्न हुई।[६९] इन्होंने शत्रुंजय तथा अन्य तीर्थस्थानों पर भी जिनालयों का निर्माण कराया। इनके द्वारा कई उपाश्रयों का भी निर्माण हुआ और संघपति के रूप में इन्होंने शत्रुंजय तथा गौड़ीपार्श्वनाथ तीर्थ की यात्रा की।[७०]

आगरा के प्रसिद्ध श्रेष्ठी तथा सम्राट जहांगीर के विश्वासपात्र कुंवरपाल एवं सोनपाल भी कल्याणसागरसूरि के परम भक्त थे। आचार्य धर्ममूर्तिसूरि की प्रेरणा से उक्त श्रेष्ठी बन्धुओं ने आगरा में दो भव्य जिनालयों का निर्माण कराया।[७१] आचार्य कल्याणसागरसूरि की निश्रा में वि०सं० १६७१ वैशाख सुदि ३ को इन जिनालय में ४५० जिनप्रतिमाओं की अंजनशलाका सम्पन्न हुई।[७२] इनमें से अनेक प्रतिमायें आज भी मिलती है, जो भिन्न-भिन्न स्थानों पर आज भी पूजा में हैं।[७३]

मूलतः कच्छ निवासी और जामनगर में जाकर बसे हुए श्रेष्ठी वर्धमान शाह और उनके भ्राता पद्मसिंह शाह भी कल्याणसागरसूरि के निकटस्थ श्रावकों में से थे।[७४] वि०सं० १६७६ में इन्होंने शत्रुंजय पर एक भव्य जिनालय का निर्माण कराया।[७५] शत्रुंजय स्थित हाथीपोल दरवाजे के दाहिने ओर ३१ पंक्तियों का एक शिलालेख उत्कीर्ण है। इसमें वर्धमान शाह की वंशावली तथा आचार्यों का पट्टानुक्रम आदि दिया गया है, जो इस गच्छ के इतिहास लेखन में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।[७६] इसी प्रकार इन्होंने जामनगर, भद्रावती (कच्छ), पावागिरि आदि स्थानों पर भी निर्माण कार्य कराया।[७७]

कल्याणसागरसूरि द्वारा रचित छोटी-बड़ी कुल ३२ कृतियों का उल्लेख मिलता है,[७८] जो निम्नानुसार हैं —

१. शांतिनाथचरित्र **२. सुरप्रियचरित्र**

३. श्रीजिनस्तोत्र **४. बीसविहरमानजिनस्तवन**

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

५. अगडदत्तरास
६. पार्श्वनाथ सहस्रनाम
७. मिश्रलिंगकोश
८. मिश्रलिंगकोशविवरण
९. पार्श्वनाथअष्टोत्तरशतनाम
१०. माणिक्यस्वामीस्तवन
११. संभवजिनस्तवन
१२. सुविधिनाथजिनस्तवन
१३. शांतिजिनस्तवन
१४. अन्तरिक्षपार्श्वनाथस्तवन
१५. गौडीपार्श्वनाथअष्टक
१६. दादापार्श्वनाथस्तवन
१७. कलिकुण्डपार्श्वनाथअष्टक
१८. रावणपार्श्वनाथअष्टक
१९. श्रीगौडीपुरस्तवन
२०. श्रीपार्श्वजिनस्तवन
२१. श्रीमहुरपार्श्वनाथअष्टक
२२. श्रीसत्यपुरीयमहावीरस्तवन
२३. श्रीगौडीपार्श्वस्तवन
२४. श्रीवीराष्टक
२५. श्रीलोणनपार्श्वस्तवन
२६. श्रीसेरीसपार्श्वनाथअष्टक
२७. श्रीसंभवनाथअष्टक
२८. श्रीचिन्तामणिपार्श्वजिनस्तोत्र
२९. श्रीसौरीपुरनेमिनाथस्तवन
३०. श्रीशांतिनाथस्तवन
३१. श्रीपार्श्वनाथस्तवन
३२. श्रीशांतिजिनस्तवन।

आचार्य कल्याणसागरसूरि की प्रेरणा से प्रतिष्ठापित जिन प्रतिमायें भी बड़ी संख्या में प्राप्त हुई हैं जो वि०सं० १६६७ से लेकर वि०सं० १७१८ तक की हैं। इनके विस्तृत विवरण के बारे में द्रष्टव्य— **अंचलगच्छीयलेखसंग्रह**।

कल्याणसागरसूरि के विभिन्न शिष्यों-प्रशिष्यों का उल्लेख प्राप्त होता है। इनके प्रशिष्य एवं पुण्यमन्दिर के शिष्य उदयमन्दिर हुए जिनके द्वारा वि०सं० १६७५/ई०स० १६१९ में मरु-गुर्जर भाषा में रचित **ध्वजभुजंगआख्यान** नामक कृति मिलती है।[७९] इसी प्रकार इनके एक अन्य प्रशिष्य एवं देवसागर के शिष्य उत्तमचन्द्र ने वि०सं० १६९५/ई०स० १६२९ में **सुनन्दारास** की रचना की।[८०] कल्याणसागरसूरि के तीसरे प्रशिष्य एवं गुणचन्द्र के शिष्य विवेकचन्द्र ने वि०सं० १६९७/ई०स० १६३१ में मरु-गूर्जर भाषा में **सुरपालरास** की रचना की।[८१] कल्याणसागरसूरि के शिष्य मतिनिधानगणि द्वारा वि०सं० १६७१/ई०स० १६१५ में **पुण्यपालकथानक** एवम् इसी के आस-पास **नेमिनाथछन्द** की प्रतिलिपि की गयी।[८२] वि०सं० १६६६/ई०स० १६१० में मरु-गूर्जर भाषा में दयाशील नामक एक अंचलगच्छीय मुनि द्वारा रचित **ईलाचीकेवलीरास** की प्रशस्ति से ज्ञात होता है कि रचनाकार के गुरु विजयशील

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आचार्य कल्याणसागरसूरि के शिष्य थे।[८३] कल्याणसागरसूरि के एक अन्य शिष्य भीमरत्न हुए। इनके द्वारा रचित कोई कृति नहीं मिलती। यही बात इनके शिष्य उदयसागर के बारे में भी कही जा सकती है। उदयसागर के शिष्य मुनि दयासागर हुए, जिन्होंने वि०सं० १६६९ में **मदनराजर्षिरास** की रचना की।[८४] इनके शिष्य मुनि धनजी द्वारा रचित **सिंहदत्तरास** (रचनाकाल वि०सं० की १७वीं शती का अन्तिम भाग) नामक कृति प्राप्त होती है।[८५] वि०सं० १५७७ में लिखी गयी **नेमिनाथचरित** (**त्रिशष्टिशलाकापुरुषचरित** का एक भाग) की दाताप्रशस्ति से ज्ञात होता है कि उक्त महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ को भुज में चातुर्मास के अवसर पर पुण्यसिंह नामक एक श्रेष्ठी ने मुनि दयासागर और मुनि देवनिधान को समर्पित की थी।[८६] इस दाताप्रशस्ति में लेखनकाल वि०सं० १५७७ दिया गया है, जो असम्भव है। वस्तुतः यह वि०सं० १६७७ होना चाहिए, क्योंकि अन्य सभी साक्ष्यों से उक्त मुनिजनों का काल विक्रम संवत् की १७वीं शती का अन्तिम चरण सिद्ध होता है। कल्याणसागरसूरि के एक शिष्य रत्नसागर हुए, जिनसे अंचलगच्छ की सागरशाखा अस्तित्व में आयी।

इस प्रकार उक्त सभी साक्ष्यों के आधार पर कल्याणसागरसूरि के शिष्यों-प्रशिष्यों की एक तालिका निर्मित की जा सकती है —

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कल्याणसागरसूरि

- अमरसागरसूरि (पट्टधर)
- पुण्यमंदिर
  - उदयमंदिर (वि॰सं॰ १६७५ में **ध्वजभुजंगआख्यान** के कर्त्ता)
- रत्नसागर — सागरशाखा प्रारम्भ ....
- देवसागर
  - उत्तमचन्द्र (वि॰सं॰ १६९५ में **सुनन्दारास** के रचनाकार)
- गुणचन्द्र
  - विवेकचन्द्र (वि॰सं॰ १६९७ में **सुरपालरास** के कर्त्ता)
- मतिनिधान (वि॰सं॰ १६७१में **पुण्यपालकथानक** एवं इसी के आस पास **नेमिनाथछंद** के प्रतिलिपिकार
- विजयशील
  - दयाशील (वि॰सं॰१६६६में **ईलाचीकेवलीरास** के कर्त्ता)
- भीमरत्न
  - उदयसागर
    - दयासागर (वि॰सं॰ १६६५ में **सुरपतिकुमारचौपाई** के कर्त्ता) (वि॰सं॰१६६९ में **मदनराजर्षिचौपाई**)
      - पद्मसागरगणि
      - पुण्यसागरगणि
      - धनजी (**सिद्धदत्तरास** के कर्त्ता)
    - देवनिधान (इनके आग्रह पर **मदनराजर्षिचौपाई** की रचना की गयी) (वि॰सं॰१६७७ में भुज में चातुर्मास के समय पुण्यसिंह नामक श्रावक ने इन्हें और दयासागर को **नेमिनाथचरित** की प्रति भेंट की)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वि०सं० १७१८ में कल्याणसागरसूरि के निधन के पश्चात् उनके शिष्य अमरसागरसूरि अंचलगच्छ के १९वें पट्टधर बने। इनके उपदेश से अंचलगच्छीय विभिन्न श्रावकों द्वारा प्राचीन जिनालयों का जीर्णोद्धार कराया गया और अनेक नूतन जिनप्रतिमाओं की प्रतिष्ठा की गयी।[८८] अमरसागरसूरि के उपदेश से वर्धमान शाह के पुत्र भारमल ने शत्रुंजय की यात्रा की और वहाँ कल्याणसागरसूरि की चरणपादुका निर्मित करायी।[८९]

अमरसागरसूरि के समय अंचलगच्छ में वाचक पुण्यसागर नामक विद्वान् हुए जिन्होंने **जयइनवनलिकाकुवलय** तथा मेरुतुंगसूरिकृत **जीरावल्लापार्श्वनाथस्तोत्र** पर टीकाओं की रचना की।[९०] पुण्यसागर की गुरुपरम्परा निम्नलिखित रूप में प्राप्त होती है—

धर्ममूर्तिसूरि
↓
भाग्यमूर्ति
↓
उदयसागर
↓
वाचक पुण्यसागर
↓
वाचक दयासागर : (**जयइनवनलिकाकुवलय और जीरावल्लापार्श्वनाथ-स्तोत्र** पर टीकाओं के कर्त्ता)

श्रीपार्श्व ने एक स्थान पर दयासागर की गुरु-परम्परा निम्नलिखित रूप में दी है[९१]—

धर्ममूर्तिसूरि
↓
कल्याणसागरसूरि
↓
भीमरत्न
↓
उदयसागर
↓
पुण्यसागर
↓
दयासागर

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

चूंकि उक्त कृतियों की प्रशस्तियाँ मुझे उपलब्ध नहीं हो सकी हैं अत: इस सम्बन्ध में निश्चयपूर्वक कुछ कह पाना शक्य नहीं है।

वि०सं० १७६२ में अमरसागरसूरि के देहान्त के पश्चात् उनके शिष्य विद्यासागर ने वि०सं० १७६३ में गच्छभार संभाला। इनके उपदेश से भी अंचलगच्छीय श्रावकों ने विभिन्न तीर्थों की यात्रायें कीं और वहाँ प्राचीन जिनालयों का जीर्णोद्धार कराया एवं नूतन जिनालयों का निर्माण करा उनमें जिनप्रतिमाओं की प्रतिष्ठा की।[९२] इन्होंने कच्छ के शासक को प्रभावित कर वहाँ पर्यूषण के दिनों में १५ दिनों के लिये अमारि की घोषणा करवायी।[९३] वाचक नित्यलाभगणि ने स्वरचित **विद्यासागरसूरिरास** में इनके समय की प्रमुख घटनाओं का वर्णन किया है।[९५] इनके उपदेश से कच्छ, पाटण, सूरत आदि नगरों में उपाश्रयों का भी निर्माण कराया गया। विद्यासागरसूरि द्वारा रचित कृतियाँ इस प्रकार है[९६]—

१. देवेन्द्रसूरि द्वारा रचित **सिद्धपंचाशिका** पर वि०सं० १७८१ में ८०० श्लोक परिमाण गुजराती भाषा में **विवरण**

२. संस्कृतमिश्रित हिन्दी भाषा में **गौड़ीपार्श्वनाथस्तवन**

वि०सं० १७९७ कार्तिक सुदि ५ मंगलवार को कच्छ में इनका देहान्त हुआ। इनके पश्चात् आचार्य उदयसागर जी अंचलगच्छ के नायक बने। वि०सं०१८०२ से वि०सं० १८२६ के मध्य प्रतिष्ठापित प्रतिमा लेखों में प्रतिमा प्रतिष्ठा हेतु प्रेरक के रूप में इनका उल्लेख मिलता है। इनका विवरण इस प्रकार है—

वि०सं० १८०२	एक प्रतिमालेख
वि०सं० १८१२	एक प्रतिमालेख
वि०सं० १८१५	छह प्रतिमालेख
वि०सं० १८१७	एक प्रतिमालेख
वि०सं० १८२१	एक प्रतिमालेख
वि०सं० १८२२	एक प्रतिमालेख
वि०सं० १८२३	एक प्रतिमालेख
वि०सं० १८२६	एक प्रतिमालेख

इनमें से अधिकांश संभवनाथ जिनालय, गोपीपुरा सूरत में रखी जिनप्रतिमाओं पर उत्कीर्ण हैं। विस्तार के लिये द्रष्टव्य— **अंचलगच्छीयलेखसंग्रह,** लेखांक ३२०-२१, ८०३-२९।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

उदयसागरसूरि द्वारा रचित कृतितों में **वीरजिनस्तवन, भावप्रकाश** अपरनाम **भावसज्झाय, गुणवर्मरास, कल्याणसागरसूरिरास, स्नात्रपंचाशिका** आदि प्रमुख हैं।[९७] वि०सं० १८२६ में सूरत में ही इनका निधन हुआ। इनके पट्टधर **कीर्तिसागरसूरि** हुए। वि०सं० १८३१ से १८४३ के मध्य प्रतिष्ठापित अंचलगच्छ से सम्बद्ध प्रतिमालेखों में प्रतिमाप्रतिष्ठा हेतु प्रेरक के रूप में इनका नाम मिलता है।[९८] इनके समय में शेखनो पाडो, अहमदाबाद में पार्श्वनाथ का एक जिनालय बनवाया गया।[९९] इस जिनालय में १८वीं शताब्दी में निर्मित श्याम पाषाण की एक चौबीसी प्रतिमा है। वि०सं०१८४२ में मांडल में इनके समय में एक उपाश्रय का भी निर्माण कराया गया।[१००]

कीर्तिसागरसूरि के पट्टधर पुण्यसागरसूरि हुए। वि०सं० १८४३ में इन्होंने गच्छभार संभाला। इनके द्वारा रचित **शंखेश्वरपार्श्वनाथस्तवन** नामक एक कृति प्राप्त होती है।[१०१] सम्भवनाथ जिनालय, सूरत में इनके समय के दो लेख मिलते हैं जो वि०सं० १८४४ वैशाख सुदि १३ और वि०सं० १८४६.....वदि ४ शुक्रवार के हैं।[१०२] इनके उपदेश से वि०सं० १८६० में शत्रुंजय के ऊपर पंचपाण्डवमंदिर के पीछे सहस्रकूट का निर्माण कराया गया। वि०सं० १८६१ में इन्हीं के उपदेश से शत्रुंजय पर इच्छाकुण्ड का निर्माण हुआ। यह बात वहाँ एक शिला पर उत्कीर्ण लेख से ज्ञात होती है। इस लेख की रचना इनके शिष्य धनसागरगणि ने की थी। यह बात उक्त लेख से स्पष्ट है।[१०३]

।।ॐ।। श्री गणेशाय नमः स्वस्तिश्री रिद्धि वृद्धि विर्योभ्युदयश्रिमद्धिम कांति महिमंडल नृप विक्रमार्क समयात् संवत् १८६१ वर्षे श्रीमत् शालिवाहन नृप शतः शाके १७२६ प्रवर्त्तमाने धातानाम्नि संवत्सरे याभ्यां यनाश्रिते श्री सूर्ये हेमंत त्रै महामांगल्य अदमासोत्तम पुण्यपवित्र श्री मार्गशीर्ष मासे शुक्लपक्षेः त्रुतिया (तृतीया) तिथौ श्री बुधवासरे पूर्वाषाढ नक्षत्रे वृद्धि नाम्नि योगे गिरकरणेवं पंचाग्नपवित्र दिवसे। श्री अंचलगच्छे पूज्य भट्टारक श्री १०८ श्री उदयसागरसूरीश्वरजी तत्पट्टे पूज्य पुरंदर श्री कीर्तिसागरसूरीश्वरजी तत्पट्टे पूज्य भट्टारक श्री पुण्यसागरसूरीश्वरजी विजयराज्ये श्री सूरति बिंदिर वास्तव्य श्रीमाली ज्ञातीय साहा सिंधा तत् पुत्र साहा कपुरचंदभाई तत्पुत्र भाई साहजी तत्पुत्र साह निहालचंदभाई तत्पुत्र ईच्छाभाईकेन नाम्नि कुंड कारापितं।। श्री पालिताणा नगरे गोहिल श्री उन्नडजी विजय राज्ये।। श्री सिद्धाचल उपरे तीर्थयात्रार्थे आगतानां लोकानां सुखार्थे जिनशासन उद्योतनार्थे धर्मार्थि इच्छाभीधानं जलकुंड कारापितं।। शेठ श्री ५ निहालचंदेन आज्ञायां साह भाईचंद तथा शाह रत्नचंदे कार्यकृतं।।रस्तु।। लिखितं मुनि धनसागर गणीनां।।

पुण्यसागरसूरि के एक शिष्य मोतीसागर हुए जिनके द्वारा रचित **शंखेश्वरपार्श्वनाथजिनस्तवन** नामक कृति प्राप्त होती है।[१०४] मोतीसागर ने वि०सं०

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

१८७४ में पाटण के फोफलियावाडो में **विक्रमचौपाई** की प्रतिलिपि की।[१०५] वि०सं० १८७० में पुण्यसागरसूरि का पाटण में देहान्त हुआ, तत्पश्चात् राजेन्द्रसागरसूरि ने अंचलगच्छ का नायकत्व ग्रहण किया। वि०सं० १८८१ में इनके उपदेश से संभवनाथ जिनालय, सूरत में अजितनाथ की धातुप्रतिमा की प्रतिष्ठा की गयी जो आज भी वहाँ विद्यमान है।[१०६] वि०सं० १८८६ में शत्रुंजयगिरि पर इनके उपदेश से एक जिनप्रासाद का निर्माण हुआ।[१०७] मुम्बई का प्रसिद्ध अनन्तनाथजिनालय वि०सं० १८८९ में निर्मित हुआ। यहाँ प्रतिष्ठा के समय राजेन्द्रसागरसूरि जी विद्यमान थे।

इनके समय में अंचलगच्छीय मुनिजनों में श्रमणाचार लुप्तप्राय हो गया था और यति-गोरजी (गुरुजी) लोग अपने-अपने स्थानों पर पोषाल बनवाकर स्थायी रूप से रहने लगे और ज्योतिष, वैद्यक, भूस्तर, गणित, व्याकरण आदि विषयों में निपुण होकर समाज से स्थायी रूप से जुड़ गये।[१०९]

राजेन्द्रसागरसूरि के निधन के पश्चात् वि०सं० १८९२ में मुक्तिसागरसूरि अंचलगच्छ के २५वें पट्टधर बने। इनके उपदेश से वि०सं० १८९३ में श्रेष्ठी खीमचन्द्र मोतीचन्द्र ने शत्रुंजयतीर्थ पर टूंक का निर्माण कराया। इस अवसर पर ७०० जिन प्रतिमाओं की अंजनशलाका सम्पन्न हुई।[११०] कच्छ प्रान्त के नलीया नामक स्थान पर श्रेष्ठी नरसीनाथा ने चन्द्रप्रभ जिनालय का निर्माण कराया और वि०सं० १८९७ में मुक्तिसागरसूरि की निश्रा में उसमें प्रतिमा प्रतिष्ठापित की गयी।[१११] मुम्बई स्थित अजितनाथ जिनालय के निर्माण और विकास में उक्त श्रेष्ठी का विशिष्ट योगदान रहा। पट्टावलियों के अनुसार ५७ वर्ष की आयु में वि०सं० १९१४ में मुक्तिसागरसूरि का देहान्त हुआ तत्पश्चात् रत्नसागरसूरि अंचलगच्छ के नायक बने। इनके उपदेश से कच्छ प्राप्त के. कोठारा तथा अन्य स्थानों पर छोटे-बड़े विभिन्न जिनालयों और उपाश्रयों का निर्माण कराया गया। वि०सं० १९२८ में इनका देहान्त हुआ।[११२]

रत्नसागरसूरि के पश्चात् विवेकसागरसूरि ने अंचलगच्छ का नायकत्व ग्रहण किया। इनके समय तक अंचलगच्छ में श्रमणाचार पूर्णरूपेण लुप्त हो जाने से शिथिलाचार बढ़ गया था तथापि इनके उपदेश से श्रावकों ने अनेक प्राचीन और महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों की प्रतिलिपियाँ तैयार करवायीं और कच्छ प्रान्त के कोडाप नामक स्थान पर एक ग्रन्थ भंडार की स्थापना की।[११३] इनके समय में भी विभिन्न जिनालयों का जीर्णोद्धार-पुनर्निर्माण कार्य सम्पन्न हुआ। वि०सं० १९४८ में इनका निधन हुआ, तत्पश्चात् जिनेन्द्रसागरसूरि गच्छनायक बनाये गये। वि०सं० १९५१ में ये कच्छ पधारे और वहाँ विभिन्न स्थानों पर चातुर्मास किया। वि०सं० २००४ में संक्षिप्त बीमारी के कारण इनका देहान्त हुआ और इन्हीं के साथ अंचलगच्छ में शिथिलाचार के रूप में व्याप्त श्रीपूज्य और गोरजी की परम्परा भी सदैव के लिए समाप्त हो गयी।[११४]

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कल्याणसागरसूरि के शिष्य रत्नसागर जी (जिनसे अंचलगच्छ में सागरशाखा अस्तित्व में आयी)[११५] की परम्परा में हुए आचार्य गौतमसागर जी ने अपने सुविहित आचार और चारित्र से अंचलगच्छ को नया जीवन प्रदान किया। अंचलगच्छ को उन्नति के शिखर पर पुनः ले जाने का श्रेय इन्हें ही है।[११६] गुजरात एवं महाराष्ट्र के विभिन्न स्थानों पर जिनशासन की प्रभावना के पश्चात् वि०सं० २००९ में कच्छ प्रान्त की राजधानी भुज में इनका देहान्त हो गया।[११७] तत्पश्चात् इनके शिष्य गुणसागर जी को मुम्बई के श्रीसंघ ने आचार्य और गच्छनायक पद प्रदान किया।[११८] गुणसागर जी के निधन के पश्चात् गुणोदयसागर जी ने इस गच्छ का नायकत्व ग्रहण किया। वर्तमान में गुणोदयसागरसूरि गच्छाधिपति और कलाप्रभसागरजी आचार्य पद पर प्रतिष्ठित हैं। इनकी निश्रा में ४० मुनि और २१६ साध्वियाँ हैं जो कच्छ एवं मुम्बई के अलावां गुजरात, राजस्थान, महाराष्ट्र व आन्ध्र प्रदेश के विभिन्न स्थानों पर विचरण कर रहे हैं।

सन्दर्भ-सूची

१-२. सोमचन्द्र धारसी, सम्पा०— **अंचलगच्छम्होटीपट्टावली**, जामनगर वि०सं० १९८५, पृ० १४०-१४४.

२अ. श्रीपार्श्व, **अंचलगच्छदिग्दर्शन**, मुम्बई १९६८ई०स०, पृ० ४९.

३. मुनि जिनविजय, सम्पा०— **विविधगच्छीयपट्टावलीसंग्रह**, सिंघी जैन ग्रन्थमाला, ग्रन्थांक ५३, मुम्बई १९६१ई०स०, पृ० १०५-१२०.

३अ. मोहनलाल दलीचन्द देसाई, **जैनगूर्जरकविओ**, भाग २, मुम्बई, १९३१ ई०स०, पृ० ७६१-७७९.

३ब. Johannes Klatt, "The S umachari-Satakam of Samaya Sundara and Pattavalis of the Anchala-Gachchha and other gachchhas". *The Indian Antiquary*, Vol. XXIII, July 1894 A.D., pp. 169-183.

४. H.D. Velankar, *Jinaratnakosha*, Government Oriental Series, Class C, No. 4, Bhandarkar Oriental Research Institute, Poona 1944 A.D., p. 59.

५. P. Peterson, Ed. *A Fifth Report on Operation in the Search of Sanskrit Mss. in the Bombay circle*, April 1892-March 1895, Bombay 1896 A.D. No. 44, pp. 65-66.

६-७. रूपेन्द्रकुमार पगारिया, "शतपदीप्रश्नोत्तरपद्धति में प्रतिपादित जैनाचार", **जैन विद्या के आयाम**, भाग ४, सम्पा०— प्रो० सागरमल जैन, पार्श्वनाथ विद्याश्रम, वाराणसी, १९९४ ई०स०, पृ० ३१-४२.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

८. श्रीपार्श्व, **अंचलगच्छदिग्दर्शन**, मुम्बई, १९६८ई०स०, पृ० ११९-२१.

९. वही, पृ० ११२-१४.

१०. वही, पृ० ११६, एवं

मोहनलाल दलीचन्द देसाई, **जैनगूर्जरकविओ**, भाग १, द्वितीय संशोधित संस्करण, सम्पा० डॉ० जयन्त कोठारी, मुम्बई, १९८६ई०स०, पृ० ७.

११. C.D. Dalal, Ed. *Catalogue of Manuscripts in the Jaina Grantha Bhandars at Pattan*, G.O.S. No. LXXVI, Baroda, 1937. A.D. Introduction, p. 56.

Jinaratnakosha, p. 368-69.

१२. पं० अम्बालाल प्रेमचन्द शाह, सम्पा०— **कालकाचार्यकथासंग्रह**, श्री जैन कला साहित्य संशोधक कार्यालय सिरीज नं० ३, अहमदाबाद, १९४९ ई०, पृ० १२-१३.

१३. P. Peterson, Ibid, Vol. V, p. 127. C.D. Dalal, Ibid, p. 402.

Jinaratnakosha, p. 11.

१४. श्रीपार्श्व, पूर्वोक्त, पृ० १९५.

१५. मुनि चतुरविजय जी, सम्पा०- **लींबडी जैन ज्ञानभण्डारनी हस्तलिखित प्रतिओनुं सूचीपत्र**, श्रीआगमोदय समिति ग्रन्थमाला, ग्रन्थांक ५८, मुम्बई १९२८ई०स०, क्रमांक ९८३, पृ० ५९.

१६-१७. मुनिश्री कलाप्रभसागर, सम्पा०-**श्रीआर्यकल्याणगौतमस्मृतिग्रन्थ**, मुम्बई वि०सं० २०३९, भाग १, विभाग २, पृ० ७९.

१८. श्रीपार्श्व, सम्पा०- **अंचलगच्छीयलेखसंग्रह**, मुम्बई १९६४ई०स०, लेखांक ४६३.

१९. *Jinaratnakosha*, p. 94.

२०. Ibid, p. 162.

२१. Ibid, p. 94.

२२. मुनि कलाप्रभसागर, सम्पा०- **आर्यकल्याणगौतमस्मृतिग्रन्थ**, भाग १, विभाग २, पृ० ६९-७५.

२३. वही, पृ० ७०-७२.

२४-२५. महोपाध्याय विनयसागर, "विराटनगर का एक अज्ञात टीकाकार- वाडव" **आर्यकल्याणगौतमस्मृतिग्रन्थ**, भाग ३, हिन्दी विभाग, पृ० ७५-७८.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

एवं वही, भाग १, विभाग २, पृ० ७९.

२६. आचार्य कलाप्रभसागर जी, **श्री अचलगच्छ के आचार्यों की जीवन ज्योति अपरनाम लघुपट्टावली**, बाडमेर, वि०सं० २०३५, पृ० ९८.

यह लेख कहां से प्राप्त हुआ है इस सम्बन्ध में आचार्य कलाप्रभसागर जी ने कुछ नहीं बतलाया है।

२७. श्रीपार्श्व, **अंचलगच्छदिग्दर्शन**, पृ० २२०-२२३.

२८. वही, पृ० २३१-२३२.

२९. वही, पृ० २६३.

३०. श्रीपार्श्व, **अंचलगच्छदिग्दर्शन**, पृ० २४०.

३१. वही, पृ० २४० एवं अम्बालाल प्रेचमन्द शाह, **कालकाचार्यकथासंग्रह**, पृ० ६६.

३२. अंचलगच्छ की अन्य शाखाओं की तरह इस शाखा का भी स्वतन्त्र रूप से इतिहास लिखा गया है जो अद्यावधि अप्रकाशित है।

३३. **अंचलगच्छीयलेखसंग्रह**, लेखांक ५४६.

३४. श्रीपार्श्व, **अंचलगच्छदिग्दर्शन**, पृ० २४४.

३५-३६. वही, पृ० २४४.

३७. गच्छाधिपेश्रीजयकीर्तिसूरिशिष्यो महीमेरुरहं स्तवं ते।

कृत्वा क्रियागुप्तकवित्वमित्थं त्वामेव दध्यां हृदये जिनेन्द्र।। ५३ ।।

'जिनस्तुतिपंचाशिका' मुनिश्री चतुरविजय, सम्पा०-**जैनस्तोत्रसन्दोह**, भाग १, प्राचीन जैन साहित्योद्धार ग्रन्थावली, पुष्प १, अहमदाबाद, १९३२ई०स०, पृ० ३६-४२.

३८. *Jinaratnakosha*, p. 78.

३८अ. Ibid, p. 314.

३९. **आर्यकल्याणगौतमस्मृतिग्रन्थ**, भाग १, विभाग २, पृ० ९१.

४०. वही, भाग १, विभाग २, पृ० ९३ एवं आचार्य कलाप्रभसागर, **लघुपट्टावली**, पृ० ११८.

४१. *Jinaratnakosha*, p. 44.

४२. Ibid, p. 402.

श्रीपार्श्व, **अंचलगच्छदिग्दर्शन**, पृ० २७८.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मोहनलाल दलीचन्द देसाई, **जैनगूर्जरकविओ**, भाग १, द्वितीय संशोधित संस्करण, पृ० ३६६.

४३. श्रीपार्श्व, पूर्वोक्त, पृ० २७९.

४४. *Jinaratnakosha*, p. 44.

४५. Ibid, p. 380.

४६. Ibid, p. 78.

४७. **अंचलगच्छीयलेखसंग्रह**, लेखांक ४१७.

४८. श्रीपार्श्व, **अंचलगच्छदिग्दर्शन**, पृ० २७९.

४९. द्रष्टव्य, इसी आलेख के प्रारम्भिक पृष्ठों में दी गयी अंचलगच्छीयपट्टधर आचार्यों की तालिका.

५०. **अंचलगच्छदिग्दर्शन**, पृ० २७९.

५१. **अंचलगच्छीयलेखसंग्रह**, लेखांक १००.

५२. **अंचलगच्छदिग्दर्शन**, पृ० २७९.

५३. वही, पृ० ३०२.

५४. द्रष्टव्य, **अंचलगच्छीयलेखसंग्रह**, लेखांक ६६८-७०१.

५५. **अंचलगच्छदिग्दर्शन**, पृ० ३१३.

५६. द्रष्टव्य, सन्दर्भ क्रमांक ३.

५६अ. *Jinaratnakosha, p. 328.*

५७-५८. **अंचलगच्छदिग्दर्शन**, पृ० ३८५-८६.

५९. मोहनलाल दलीचन्द देसाई, **जैनगूर्जरकविओ**, भाग ३, द्वितीय संशोधित संस्करण, मुम्बई १९८७ई०स०, पृ० १६६-६७.

सहजरत्न द्वारा रचित **बीसविहरमानजिनस्तवन** (रचनाकाल वि०सं० १६१४/ई०स० १५५८) और **चौदहगुणस्थानकगर्भितवीरस्तवक** नामक कृतियां भी प्राप्त होती हैं।

६०. Vidhatri Vora, Ed. *Catalogue of Gujarati Manuscripts Muniraja Shree PunyavijayaJis Collection, L.D. Series, No-71, Ahmedabad 1978 A.D. P. 239.*

जैनगूर्जरकविओ, भाग २, द्वितीय संशोधित संस्करण, पृ० ३६२-६३.

अंचलगच्छदिग्दर्शन, पृ० ३६३.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

६१. **जैनगूर्जरकविओ**, भाग २, पृ० १८९-९०.

६२-६३. वही

६४. अगरचन्द भँवरलाल नाहटा, "जसकीर्तिकृत सम्मेतशिखरास का सार" **जैनसत्यप्रकाश**, वर्ष ७, अंक १०-११, पृष्ठ ५१७, ५४८.

आर्यकल्याणगौतमस्मृतिग्रन्थ, भाग ३, हिन्दी विभाग, पृ० ५७-६५.

६५. **जैनगूर्जरकविओ**, भाग ३, नवीन संस्करण, पृ० ३०१-३०६.

ज्ञानमूर्ति द्वारा रचित **बाइसपरीषहचौपाई, संग्रहणीबालावबोध, प्रियंकरचौपाई** आदि कृतियां भी मिलती हैं।

६६. अंचलगच्छे दिन दिन दीपे, श्रीधर्ममूरति सूरिराया।

तास तणे पखे महीयल विचरें, भानुलब्धि उवझाया रे।

ताससीस मेघराज पयपे चिरनंदो जा चंदा रे।

अे पूजा जे भणसे बाणसे, तस घर होइ अणंदा रे।

जैनगूर्जरकविओ, भाग ३, द्वितीय संशोधित संस्करण, संपा० डॉ० जयन्त कोठारी, मुम्बई १९८७ ई०, पृ० १६४-६५.

हिन्दीजैनसाहित्यकाइतिहास (मरु-गूर्जर), भाग २, पृ० ३६५-६६.

६७. **अंचलगच्छदिग्दर्शन**, पृ० ३९१.

६८-६९-७०. भंवरलाल नाहटा, "राजसीरास का सार", **आर्यकल्याणगौतमस्मृतिग्रन्थ**, भाग ३, हिन्दी विभाग, पृ० ४-१०.

७१. **लघुपट्टावली**, पृ० १२६.

७२. वही, पृ० १३९.

७३. **अंचलगच्छीयलेखसंग्रह**, लेखांक २८७-३०८; ७६६-७७८.

७४. **लघुपट्टावली**, पृ० १४३.

७५-७६. वि०सं० १६७६ का वर्धमान शाह का लेख **अंचलगच्छीयलेखसंग्रह**, लेखांक ३१०.

७७. **लघुपट्टावली**, पृ० १४३ और आगे

७८. मुनि महोदयसागर, **कल्याणसागरसूरि का जीवनचरित**, पृ० १७०-७३.

७९. संवत् सोल पंच्योतरे रे, कारतिक मास मझारि रे,

सुद तेरस अति उजली रे, सोम सुतन भलोवार रे।

विधिपक्ष गछ गुरु राजीओ रे, सोहे निर्मल नाण रे,

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

दिन दिन महिमा दीपतो रे, जिम उदयाचले भांण रे।

— — —

तास पक्ष पंडितबरु रे, पुण्यमंदिर मुनिराय रे,
विनइ तेहना वीनवे रे, उदयमंदिर धरी साय रे।
रास रच्यो खंते करीरे, सेरवाटपुर मांहि रे,
नरनारी जे सांभले रे, तस होई अधिक उछाहि रे।

शीतिकण्ठ मिश्र, पूर्वोक्त, भाग २, पृ० ४८.

८०. संवत सोल पंचाणुआ वरसि, आषाढ़ सुदि हरसि जी,
श्री अंचलगछि विराजि, श्रीकल्याणसागर सूरिराजिजी।
....
....
वाचकवंस विभूषण वारु श्री देवसागर भवतारु जी
तास सीस मनि भावि उत्तमचंद गुण गावि जी।

शीतिकण्ठ मिश्र, पूर्वोक्त, भाग २, पृ० ४७.

८१ संवत सोल संताणुइ पोस पुनिय दिनसार रे,
चरित्र अेह रचिउ मनरंगे रायधनपुर मझारि रे।
....
पण्डित गुणचंद्र वंदता पामीजे उछाह रे,
सुगुरु अेह तणे सुपसाये, भाख्यो जे अधिकार रे।
विवेकचंद्र कहे भावे सुणता लहइ लाभ अपार रे।
सुणी चरित्र दीजे दान जे कीजे अतिथिसंविभाग रे।
शीतिकण्ठ मिश्र, वही, भाग २, पृ० ४८७.

८२. श्रीपार्श्व, **अंचलगच्छदिग्दर्शन**, पृ० ४०८.

८३. अंचलगच्छि श्रीधर्म्ममूर्तिसूरि सूरिसिरोमणि दीपइ,
तस पाटि श्रीकल्याणसागर सूरि मयण महाभद्र जीपइ रे।
संवत षट रस वाण (काय) निशाकर, कातिक वदि सोमवारि,
पांचमि जोडि करी अे रूडी, श्री भुज नगर मझारि रे।
वाचक वंश सुहाकर मुणिवर, श्री विजयशील मुणिंद,

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तास सीस दयाशील पयंपइ वंदु इला मुनि चंद रे।
इलाची मुनि ना गुण गांता, पातिक दूरि पलाइ,
श्री चिंतामणि पास प्रसादिइं ऋद्धि वृद्धि थिर थाइ रे।

इलाचीकेवलीरास की प्रशस्ति, शीतिकण्ठ मिश्र, वही, भाग २, पृ० २१६-१७.

मुनि दयाशील द्वारा रची गयी **शीलबत्तीसी** (रचनाकाल वि०सं० १६६४/ई०स० १६०८), **चन्द्रसेन-प्रद्योत नाटकीयप्रबन्ध** (रचनाकाल वि०सं० १६६७/ई०स० १६११) आदि कृतियां भी मिलती हैं।

८४. सोलह सय उगणोत्तरइ पुर जालोर मझारि,
आसु सुदि दशमइं कियउ, कथाबंध गुरुवारि।
....
श्री अंचलगच्छ उदधि समान, संघरयण केरउ अहिठाण।
उदयउतास श्रीगुरु कल्याणसागर सम गुणनांण,
तासपक्षि महिमाभंडार, पंडित भीमरतन अणगार।
तास विनेय विनयगुणगेह, उदयसमुद्र सुगुरु ससनेह,
तास सीस आणंदिइ घणइं, दयासागर वाचक.... इम भणइ।

मदनराजर्षिरास की प्रशस्ति, शीतिकण्ठ मिश्र, पूर्वोक्त, भाग २, पृ०२१७-१९.

मोहनलाल दलीचन्द देसाई, **जैनगूर्जरकविओ,** द्वितीय परिवर्धित संस्करण, सम्पा०— डॉ० जयन्तकोठारी, भाग ३, पृ० ९७-९९.

वाचक दयासागरगणि ने **मदनराजर्षिचरित** की रचना अपने गुरुभाई देवविधान के आग्रह पर की थी। **अंचलगच्छदिग्दर्शन,** पृ० ४०९-१०

८५. **अंचलगच्छदिग्दर्शन,** पृ० ४०८, ४१०.
शीतिकण्ठ मिश्र, पूर्वोक्त, भाग २, पृ० २३६-३७.

८६. मुनिपुण्यविजय, "एक ग्रन्थनी प्रशस्ति"
जैनसत्यप्रकाश, वर्ष १२, अंक २, टाइटिल पृ० २.

८७. द्रष्टव्य, इसी निबन्ध के प्रारम्भ में दी गयी अंचलगच्छीय आचार्यों की पट्टपरम्परा

८८-८९. **लघुपट्टावली,** पृ० १५६-५७.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

९०. वही, पृ० १५८-५९.

९१. द्रष्टव्य, कल्याणसागरसूरि के शिष्य-प्रशिष्यों की तालिका के अन्तर्गत

९२-९४. **लघुपट्टावली**, पृ० १६१-६२.

९५-९६. वही, पृ० १६५-६६.

९७. वही, पृ० १७०.

९८. द्रष्टव्य **अंचलगच्छीयलेखसंग्रह**, लेखांक ८३३-८४८.

९९-१००. **लघुपट्टावली**, पृ० १७१.

१०१-१०२. **अंचलगच्छदिग्दर्शन**, पृ० ५१६-१७.

१०३. **अचलगच्छीयलेखसंग्रह**, लेखांक ३२६.

१०४-१०५. **अंचलगच्छदिग्दर्शन**, पृ० ५१५-१६.

१०६. वही, पृ० ५१८-१९.

१०७. वही, पृ० ५१९.

१०८. वही, पृ० ५२०.

१०९. वही, पृ० ५२१.

११०. **लघुपट्टावली**, पृ० १७३.

१११. **अंचलगच्छदिग्दर्शन**, पृ० ५२६ और आगे

११२. **लघुपट्टावली**, पृ० १७७-१८०.

११३. वही, पृ० १८१ और आगे.

११४. वही, पृ० १८३-१८४.

११५. इस शाखा का भी स्वतन्त्र रूप से इतिहास लिखा गया है जो अद्यावधि अप्रकाशित है।

११६-११७. **लघु पट्टावली**, पृ० १८४ और आगे.
आर्यकल्याणगौतमस्मृतिग्रन्थ, भाग १, विभाग ४, पृष्ठ १४२-१६१.
अंचलगच्छदिग्दर्शन, पृ० ५९४-९९.

११८. **आर्यकल्याणगौतमस्मृतिग्रन्थ**, भाग १, विभाग ४, पृष्ठ १४२-१६१.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

संकेत सूची

जै०ले०सं० : **जैनलेखसंग्रह,** भाग १-३, संपा० संग्राहक—श्री पूरनचन्द नाहर, कलकत्ता १९१८, १९२७, १९२९ ई०।

प्रा०ले०सं० : **प्राचीनलेखसंग्रह,** सम्पा०— मुनि विद्याविजय जी, भावनगर, १९२९ ई०।

जै०धा०प्र०ले०सं० : **जैनधातुप्रतिमालेखसंग्रह,** भाग १-२; सम्पा०— आचार्य बुद्धिसागरसूरि, श्री अध्यात्म ज्ञान प्रसारक मण्डल, पादरा १९२४ ई०।

अ०प्र०जै०ले०सं० : **अर्बुदाचलप्रदक्षिणाजैनलेखसंग्रह,** (आबू—भाग ५) संपा०— मुनि जयन्त विजय जी, यशोविजय जैन ग्रन्थमाला, भावनगर, वि०सं० २००५।

बी०जै०ले०सं० : **बीकानेरजैनलेखसंग्रह,** सम्पा०— अगरचन्द नाहटा, भंवरलाल नाहटा, कलकत्ता १९५५ ई०।

जै०धा०प्र०ले० : **जैनधातुप्रतिमालेखसंग्रह,** सम्पा०— मुनि कान्तिसागर जी, जिनदत्तसूरि ज्ञान भंडार, सूरत १९५० ई०।

श्री०प्र०ले०सं० : **श्रीप्रतिमालेखसंग्रह,** सम्पा०— दौलतसिंह लोढ़ा 'अरविन्द', यतीन्द्र साहित्य सदन, धामणिया १९५५ ई०।

प्र०ले०सं० : **प्रतिष्ठालेखसंग्रह,** सम्पा०— महोपाध्याय विनयसागर, कोटा १९५३ ई०।

रा०प्र०ले०सं० : **राधनपुरप्रतिमालेखसंग्रह,** सम्पा०— मुनि विशाल विजय, यशोविजय जैन ग्रन्थमाला, भावनगर १९६० ई०।

अं०ले०सं० : **अंचलगच्छीयलेखसंग्रह,** सम्पा०— श्रीपार्श्व, श्री अखिल भारतीय अचलगच्छ (विधिपक्ष) श्वेताम्बर जैन संघ, झवेरी मेन्शन, पहला माला, ११४, केशव जी नायक रोड, मुम्बई १९७१ ई०।

श०गि०द० : **शत्रुंजयगिरिराजदर्शन,** . सम्पा०— मुनि कंचनसागर, श्रीआगमोद्धारक ग्रन्थमाला, ग्रन्थांक ५९, कपडवज १९८२ई०।

श०वै० : **शत्रुंजयवैभव,** सम्पा०— मुनि कान्तिसागर, जयपुर, १९९० ई०।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

श्रमण

आधुनिक सन्दर्भों में तीर्थङ्कर-उपदेशों की प्रासङ्गिकता

*अनिल कुमार**

अनादि एवं अनन्त ब्रह्माण्ड की रचना-प्रक्रिया एवं उसके प्रपञ्च के व्यामोह से ग्रस्त समग्र प्राणियों की सर्वाङ्गीण उन्नति हेतु, जीवन-दर्शन की संवेदनशीलता के साथ-साथ धार्मिक आचरणों के संज्ञापन के निमित्त विश्व के अनेक धार्मिक, दार्शनिक निकायों में विस्तृत एवं गूढ़ चिन्तन किया गया है। यह चिन्तन अन्यान्य धर्मों की तरह भगवान् ऋषभ से लेकर भगवान् महावीर तक की सुदीर्घ परम्परा वाले जैन धर्म में भी समान रूप से अनुप्राणित हो रहा है।

जैनधर्म भारतीय संस्कृति की प्रवृत्तिमार्गी और निवृत्तिमार्गी धाराओं में से उत्तरवर्ती धारा की श्रमण परम्परा का प्रतिनिधित्व करता है। जबकि हिन्दू धर्म के वैदिक स्वरूप को प्रवृत्तिमार्गी माना जाता है। जैनधर्म की भाँति बौद्ध धर्म भी निवृत्तिमार्गी श्रमण परम्परा का ही प्रतिनिधि है। श्रमण परम्परा का मुख्य ध्येय सांसारिक जीवन की दुःखमयता पर बल देकर वैराग्यपूर्वक तप एवं संयम को अपनाकर मोक्ष को जीवन का चरम लक्ष्य बनाना है। वस्तुतः तप एवं योग की आध्यात्मिक साधना एवं शीलों एवं व्रतों के रूप में नैतिक मूल्यों की प्रतिष्ठा सामान्य रूप से इस परम्परा के धर्मों एवं विशेष रूप से जैनधर्म का भारतीय संस्कृति को विशिष्ट अवदान है। यहाँ उल्लेख करना अप्रासङ्गिक नहीं होगा कि श्रमण परम्परा में केवल जैन और बौद्ध धर्म ही सम्मिलित नहीं हैं। जैन विद्या के शीर्षस्थ विद्वान् प्रो०सागरमल जैन[१] के अनुसार औपनिषदिक एवं सांख्ययोग की धारायें भी इस परम्परा में सम्मिलित हैं। इसके अतिरिक्त आजीविक आदि कुछ अन्य धारायें भी थीं जो आज लुप्त हो चुकी हैं।

जैन परम्परा में चौबीस तीर्थङ्करों की मान्यता आज सर्वमान्य हो चुकी है। इसके आदि पुरुष ऋषभ थे। भगवान् ऋषभ के अतिरिक्त अरिष्टनेमि, पार्श्व और महावीर को

---

*. शोध-छात्र, वीर कुंवर सिंह विश्वविद्यालय, आरा।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

छोड़कर अन्य तीर्थङ्करों की ऐतिहासिकता के सम्बन्ध में साक्ष्य पूर्णत: मौन हैं। परवर्ती काल के आगम और अन्य कथा ग्रन्थ ही उनके विषय में विवरण प्रस्तुत करते हैं। प्रथम तीर्थङ्कर ऋषभ के उपदेशों का सही एवं निश्चित स्वरूप निर्धारित कर पाना कठिन है, परन्तु इतना कहा जा सकता है कि ऋषभ संन्यास-मार्ग के प्रवर्तक के रूप में ध्यान और तप पर अधिक बल देते थे। प्राचीन जैनागमों में मान्य **उत्तराध्ययनसूत्र**[२] के केशि-गौतम संवाद से तीर्थङ्करों द्वारा प्रवर्तित धर्म के स्वरूप पर प्रकाश पड़ता है। इसके अनुसार भगवान् पार्श्वनाथ ने चातुर्याम धर्म अर्थात् अहिंसा, सत्य, अस्तेय और अपरिग्रह का उपदेश दिया है जबकि अन्तिम तीर्थङ्कर भगवान् महावीर ने पञ्चशिक्षात्मक धर्म का उपदेश दिया है— अहिंसा, सत्य, अस्तेय, अपरिग्रह और ब्रह्मचर्य। उल्लेखनीय है कि जैन धर्म का परम लक्ष्य मोक्ष-ज्ञान, साधना और चारित्र रूप है और सभी धर्म प्रवर्तकों के उपदेशों के मूल में लोक कल्याण के साथ चरम लक्ष्य की प्राप्ति ही एकमात्र उद्देश्य रहता है।

वस्तुत: प्रत्येक धर्म और परम्परा की एक विशिष्ट जीवन दृष्टि होती है जिसके निर्माण में उसके प्रवर्तकों के वचन या उपदेश मूलमन्त्र या बीज का कार्य करते हैं। अथवा दूसरे शब्दों में तीर्थङ्करों के मूल मन्त्र के रूप में उपदिष्ट तत्त्वों को समझने के लिए उस धर्म विशेष की समग्र दृष्टि को जानना आवश्यक है। यहाँ यह भी ध्यातव्य है महापुरुषों की वाणी में यही विशेषता होती है कि उनकी प्रासङ्गिकता काल-बन्धन से परे है। वे सभी कालों और सभी परिस्थितियों में प्रासङ्गिक हैं, उपादेय हैं। उनके बताये मार्ग पर चलकर समाज युगों-युगों तक अपना अभ्युदय और कल्याण कर सकता है।

जैन परम्परा में तीर्थङ्करों ने जो उपदेश दिया वह निवृत्तिमार्गी परम्परा का पोषक और प्रवृत्तिमार्गी परम्परा से भिन्न है। इन दोनों परम्पराओं के मूलभूत प्रदेयों की पृष्ठभूमि में ही तीर्थङ्करों के उपदेशों को भली-भाँति समझा जा सकता है। प्रो० सागरमल[३] जैन ने सारिणी के माध्यम से इसे अत्यन्त सुन्दर ढङ्ग से व्यक्त किया है—

मनुष्य

देह	चेतना
वासना	विवेक
भोग	विराग (त्याग)
अभ्युदय (प्रेम)	निःश्रेयस्
स्वर्ग	मोक्ष (निर्वाण)
कर्म	संन्यास

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

- प्रवृत्ति
  - प्रवर्तक धर्म
    - अलौकिक शक्तियों की उपासना
      - समर्पणमूलक भक्ति-मार्ग
      - यज्ञमूलक कर्म-मार्ग
- निवृत्ति
  - निवर्तक धर्म
    - आत्मोपलब्धि
      - चिन्तन प्रधान ज्ञान-मार्ग
      - देहदण्डनमूलक तप-मार्ग

इस प्रकार प्रवर्तक धर्म में प्रारम्भ में जैविक मूल्यों की प्रधानता रही, वेदों में जैविक आवश्यकताओं की पूर्ति से सम्बन्धित प्रार्थनाओं के स्वर अधिक मुखर हुए हैं। उदाहरणार्थ— हम सौ वर्ष जीवें, हमारी सन्तान बलिष्ठ होवें, हमारी गायें अधिक दूध देवें, वनस्पति प्रचुर मात्रा में हों आदि। इसके विपरीत निवर्तक धर्म ने जैविक मूल्यों के प्रति एक निषेधात्मक रुख अपनाया, उन्होंने सांसारिक जीवन की दुःखमयता का राग अलापा। उन्होंने संसार और शरीर दोनों से ही मुक्ति को जीवन-लक्ष्य माना। उनकी दृष्टि में दैहिक आवश्यकताओं का निषेध, अनासक्ति, विराग और आत्म-संतोष ही सर्वोच्च जीवन-मूल्य हैं।

तीर्थङ्करों के उपदेशों का आध्यात्मिक, सामाजिक एवं व्यक्तिगत जीवन में जो प्रभाव पड़ा वह जैन धर्म का भारत ही नहीं वरन् विश्व को विशिष्ट अवदान हैं। समग्र रूप से देखा जाय तो उनके उपदेशों में आध्यात्मिक मूल्य की प्रधानता, निषेधक जीवन-दृष्टि, व्यष्टिवाद, व्यवहार में नैष्कर्म्यता और दृष्टि में पुरुषार्थ का समर्थन, अनीश्वरवाद, वैयक्तिक प्रयास पर बल, कर्मसिद्धान्त का समर्थन, आन्तरिक विशुद्धता पर बल, जीवन का मोक्ष एवं निर्वाण की प्राप्ति, जातिवाद का विरोध, वर्णव्यवस्था का केवल कर्मणा आधार पर समर्थन, संन्यास जीवन की प्रधानता, एकाकी जीवन शैली, जनतन्त्र का समर्थन, सदाचारी की पूजा, ध्यान और तप की प्रधानता दृष्टिगोचर होती है।

इस प्रकार तीर्थङ्करों ने संयम, ध्यान और तप की सरल साधना पद्धति का विकास किया एवं वर्ण-व्यवस्था, जातिवाद और ब्राह्मण संस्था के वर्चस्व का विरोध किया। जैन संघ-श्रमण-श्रमणी और श्रावक-श्राविका में सभी वर्ग के लोगों को समान स्थान मिला। राज्य संस्था की दृष्टि से तीर्थङ्करोपदिष्ट धर्म ने जनतन्त्र का समर्थन किया।

वर्तमान परिप्रेक्ष्य में सम्पूर्ण विश्व अशान्त एवं तनावपूर्ण स्थिति में है। भौतिक सुख-सुविधाओं का अम्बार मानव मन को सन्तुष्टि एवं आन्तरिक सुख नहीं प्रदान कर पाया है। समाज में दूरी बढ़ रही है। संक्षेप में कहा जाय तो मानसिक, अन्तर्द्वन्द्व, सामाजिक एवं जातीय संघर्ष, वैचारिक संघर्ष एवं आर्थिक संघर्षरूपी दानव समाज को

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

खाये जा रहे हैं। इन समस्याओं का निराकरण मानव समाज के सामने सबसे बड़ी चुनौती है।

आज चारों ओर स्वर बुलन्द हो रहा है कि सामाजिक बुराइयाँ बढ़ रही हैं। समाज का ढाँचा विकृतियों के दबाव से चरमरा रहा है। इस दिशा में गहराई से चिन्तन करें तो आज की सारी समस्याएँ चाहे आर्थिक क्षेत्र की हों. या राजनैतिक अथवा सामाजिक, उन्हें तीर्थङ्करों के मतों की प्रकृति द्वारा समाप्त किया जा सकता है।

समतदंसी ण करेई पावं[४] — अर्थात् समदर्शी कभी पाप नहीं करते। आज पारस्परिक सद्भावना के अभाव में व्यक्ति क्रूर हो गया है। वह प्राणियों की हिंसा करता है, धोखा, लूट, मिलावट और रिश्वत से अपार धन संग्रह करता है, जिस कारण समाज में अकर्मण्यता तथा विसंगतियाँ हो गईं और समाज में असमानता उत्पन्न होने लगी है। ऐसी स्थिति में यदि प्रत्येक व्यक्ति मंसं च मंसं व का उदाहरण अपनाने का संकल्प कर ले तो आज के सन्दर्भ में तीर्थङ्करों द्वारा उपदिष्ट वाणी की महत्ता विशेष रूप से सार्थक हो सकती है।

इच्छा परिणाम[५] — आज आर्थिक समस्या को सुलझाने के लिए अनेक प्रयत्न किये जा रहे हैं। यदि उन प्रयत्नों के साथ-साथ शुद्धि और व्यक्तिगत उपभोग का संयम-ये दो बातें और जोड़ दी जायें तो निश्चित ही इस समस्या के समाधान में अध्यात्म का बहुत बड़ा योग होगा। भगवान् महावीर ने गृहस्थों की नैतिक-संहिता में जो नियम निश्चित किये थे, उनसे सामाजिक-व्यवस्था को एक ठोस आधार मिल सकता है।

आज विषमता से सम्पूर्ण समाज पीड़ित है। अर्थशास्त्र को जानने वाले कुछ लोग कहते हैं कि इच्छाओं का विकास नहीं होगा तो उत्पादन नहीं बढ़ेगा। उत्पादन नहीं बढ़ेगा तो समाज समृद्ध नहीं होगा। इसलिए इच्छाओं को बढ़ाना जरूरी है, परन्तु अपरिमित इच्छाओं का होना समस्याओं को बढ़ावा देना है। वर्ग-संघर्ष और वर्ग-भेद का सिद्धान्त इसी आधार पर उत्पन्न हुआ है। एक ओर शक्तिशाली और साधन-सम्पन्न समाज था। उसने पदार्थों का इतना संग्रह कर लिया कि साधनविहीन, कमजोर और अशिक्षित समाज के पास कुछ रहा ही नहीं। ऐसी स्थिति में वर्ग-संघर्ष के कारण सारी समस्याएँ उत्पन्न हो जाती हैं। इसी वर्ग-संघर्ष को रोकने के लिए आचार्य सोमदेव ने लिखा है — 'समता परमं आचरणम्'। आचार का सबसे बड़ा सूत्र है — समता, साम्यभाव या समानता। यह केवल समाजवाद या साम्यवाद का ही सूत्र नहीं है, अपितु चिन्तन की अच्छाई का सूत्र है, वहाँ समाज का विकास होता है और जहाँ समाज की आचारधारा में विषमता होती है, वहाँ उसका पतन सुनिश्चित होता है। आचार के परिष्कार का ही अर्थ है — समता का विकास।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

संयम खलु जीवनम् — संयम ही जीवन है। सामाजिक स्वास्थ्य में बाधा डालने वाली जो वैयक्तिक मनोवृत्तियाँ हैं उनका परिमार्जन होना चाहिए। स्वभाव की जटिलता के कारण मनुष्य संघर्ष से गुजरता है और उसकी एक ऐसी भट्टी जलती है जिसकी आँच सदा प्रताड़ित करती रहती है। कभी क्रोध का, कभी अहङ्कार का, कभी वासना का तो कभी भय का। न जाने कितने चूल्हे जल रहे हैं। कितनी आँच पका रही है। उस असंयमतारूपी आँच के कारण स्वभाव बिगड़ता है और उसका परिणाम शरीर पर पड़ता है तो शरीर, मन और भावनाएं रुग्ण हो जाया करती हैं। यदि तीर्थङ्करों के सन्देश को जीवन में उतारा जाय तो एक स्वस्थ समाज का निर्माण हो सकता है।

मुनिचर्या में आए विशेष कठिन साधनों को गृहस्थ जीवन के अनुरूप अध्यवसाय में परिणत करने से तीर्थङ्करों की ऐतिहासिक उपदेशात्मक वाणी सार्थक होकर एक सुन्दर समाज की परिकल्पना हो सकती है।

सन्दर्भ

१. **जैन विद्या के आयाम**, खण्ड ६, **प्रो० सागरमल जैन अभिनन्दनग्रन्थ**, पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी, १९९८, पृ०५९६.

२. **उत्तराध्ययनसूत्र** (केशि गौतम संवाद) २३/२३.

३. जैन विद्या के आयाम, पृ० ५९२.

४. वहीं, पृ० १२८.

५. आचार्य महाप्रज्ञ, **महावीर का अर्थशास्त्र**, आदर्श साहित्य संघ प्रकाशन, पृ० १०३-११०.

●

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Śramaṇa

Vasanta In Prakrit Literature

Dr. Veneemadhavashastri Joshi

Seasons, as they relate the diverse moods of the year to those of man and women in general and of lovers in particular, are part and parcel of our life. The spring *(Vasanta ṛtu)* brings exhilarating new life and exceeding joy to both man and Nature and as such it is considered to be the threshold of gay new-year. For lovers it is a bountious harvest of amorous sentiment. If lovers are mutually delightened it is *Vasanta* (the spring) for them though the running season is summer. Thus it is used well neigh, in Prakrit literature as a synonym of 'delight'. It is an evergreen stimulant of fresh thoughts to poets. Mostly it is caught in the spotlight of poets' description.

In fact it cannot be gain-said that Sanskrit and Prakrit are two faces of the sàme coin. Naturally, Sanskrit poets were masters of Prakrit too. However, we can find these Prakrit poets never tired of delineating deliciously the divine beauty of the spring in their works. They are left to their own devices in framing the fancies on the Spring. Sometimes, they create and devise some situations in their works so that they can describe luxuriously the Spring and otherwise they feel the delinquency. In depicting the Spring they are found with their facile pen and as such both reader and writer luxuriate in the same.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

We can find this *Vasanta* delicately handled by Prakrit poets with three facets viz. Nature, Festival and Love. This conception of *Vasanta* is ensnared in *poems, gāhās* and *prose* passages. Scarcely we find the literary works in Prakrit bereft of the descriptions of *Vasanta.*

Nature

Many a stanza and passage in Prakrit decorously present this *Vasanta* through the rich description of the Nature. *Vasanta* (the Spring) as he enjoys the entire confidence of *Manmatha* is considered to be the pet friend of *Cupid.* The gardens, as if emulous of fame in setting their grandure at the prospering spring are like the luxurious pleasure gardens of the king *Vasanta.* Enthusing over the spring, the cuckoos, are as if singing the fabulous glory of *Vasanta* and serving the purpose of the bards, and as such they are as if conducting the facile musical functions in the flourishing gardens.[1] The cuckoos, bees, *Malayānila,* and the trees like *Aśoka, Sahakāra, Kurabaka, Palāśa, Kesara* etc. are deemed to be the paraphernalia of this king *Vasanta.* Some poets find these bees and cuckoos to be designated as the bards of Lord *Vasanta* to eulogise his green glory. Entranced with the advent of *Vasanta* the green gardens and forests, through the cuckoos with their rising sweet notes, are as if welcoming with open arms this *Vasanta.*[2] Rājaśekhara, with his deep heart filled with poetic feelings to its brim entirely forgets himself in expatiating upon the soft Nature, at the very outset of his *Karpūramañjarī* when the spring sets in with its kith and kin.[3] In the *Mālavikāgnimitraṁ, Vidūṣaka,* beaming with joy at the advent of the Spring describes it that the vernal beauty as if to court the king, had put on the colourful garments of vernal flowers.[4]

Hāla's *Sattasaī* suggests the delectable decent of spring by enunciating the blooms of *Mālati, Palāśa, Cūta* and others which

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

bloom only in *Vasanta.* The lovers in separation are severely afraid of this *Palāśa* like of demons *(Palāśa),* for it suggests the deplorable advent of the spring (like demons), and hurts the heart. The flowers of this *Palāśa,* also called *Kimśuka,* are excessively red in complexion and as such are hortative of love *(rāga).* Haribhadra writes that these *Palāśa* - flowers, deleterious to the love-lorn heroines, appear- as if the burning flames of pyre, (as they are red) prepared by the travellers' wives, who, on account of severe pangs of love are ready to put an end to their life instead of sinking in depravity.[6] A Sanskrit poet says that when the *Palāśa* flower appears in the nature even the most cultivated mind of Śuka, the young sage who deserved the encomium - *"Advitīya-jitendriya"* is brought to a precarious condition.[7]

The most splendiferous tree which is never forgotten in the descriptive items of the spring is the Mango. When the blossoms *(cūtamañjarī)* and sprouts spring up from it, the landing of *Vasanta* is as if acknowledged. It is as if the reinforced head-quarter of the spring.[8] The sentimented cuckoo regales very much to itself with mango and *Vasanta.* Kālidāsa when describing Pārvatī, who enamoured of love, awaiting Śiva had sent her message to Lord Śiva through her friend, says that, Pārvatī was like the mango who awaiting *Vasanta* sends its love-message to *Vasanta* through the sweet notes of cuckoo, to come soon.[9] The spring itself is an enervating climate to a *Virahiṇī* and to her the sprouts of the mango appear to be exasperating and inauspicious. *Hāla* says it is like an envenomed arrow of *Manmatha,* and as such one of his heroines tries to eliminate that; but she cannot extricate herself from that deleterious sight, for it is at the facing door of her house itself. At the same time on finding with her anguished look the bees hovering over the mango grove she decidedly surmises that *Vasanta* the almighty, must have descended on the earth. For, there cannot be smoke without fire.[10]

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Jayavallabha observes that at the behest of *Vasanta* the parrot with a tiny bunch of mango in its beak addresses the king Autumn thus - "Oh King! get back; now the entire earth is acquired by the King *Vasanta*". Further he fancies that the mango bunch has made the swarm of bees averse to other flowers. These bunches torcher the love-lorn lovers by enflaming the fire of love though they are wet and tender in nature.[11] A modern poet describes the emotive relation of mango and cuckoo in a different way. The male cuckoo on the branch of a mango gave its new sprouts to his beloved and as such the enhanced delight exhorted the she-cuckoo to give out delectable sweet note in *Vasanta.*[12]

Another poet observes that the cooing of the cuckoo and the hums of tipsy bees that are gratifying to ears are as if receiving fondly the King *Vasanta* on behalf of the garden embossomed with the vernal grandure. Rājaśekhara deliciously imagines that the waving notes of the cuckoos are giving some healthy pieces of advice.[13] The bees hovering over mango bunches appear embarrasingly as if smoke sheets of fire in the form of *Viraha* for enervated travellers. *Hāla* finds these bees as the black jewels fixed in the girdle of the vernal beauty.[14]

Another refulgent piece of charm that embellishes the Nature in spring is the *Aśoka* tree. The enchanting sprouts and bunches, since they are influenced by the spring, are treated to be one of the endearing arrows of *Cupid.*

It is interesting to note that this *Aśoka* is in the habit of springing fair flowers only if it is kicked lovely by a beautiful lady with her foot nicely decorated. In a way the beauty of that lady is wisely put to test.[15] *Aśoka,* as if to take revenge against this so called drastic kick exasperates the women in separation in the same spring. Hāla humourously remarks that no self respected man ever tolerates such insult, and as such when women kick this *Aśoka,* to retaliate this, *Aśoka* with its new blossoms torments a great deal

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

these women as and when these are embittered by separation.[16] The *Kurabaka* plant, too, luxuriates in embracing compulsorily a pretty girl before it bears blossoms. Hāla ironically taunts at the unsentimented person who is interested in making his pretty wife undertake this act of *Dohada* for *Kurabaka* in spring i.e., embracing it. He says; Oh! innocent one you seek opaquely an embrace of your beloved as the longed object for your *Kurabaka* plant (to blossom) and not for your own self. And this is why your wife smiles with her pretty face turned round.[17] The *Tilaka* plant unlike other friends of the spring which aspire after various touches of beautiful girls, is gratified enough to bear blossoms if it is merely looked at by the heroine with her side glances of embellished eyes. This process of making various approaches to trees and plants is technically called *Dohada*. Rājaśekhara justifying the exquisite beauty of the heroine as peerless introduces the same to the hero (in *Karpūramañjarī)* by making her undertake successful efforts in following these facile procedures. The love-lorn hero takes this to be an excellent opportunity to excel her matchless beauty in various ways.[18]

The spring lacks in one splendid flower i.e., *Ketakī* (for, it blossoms only in the rainy season). But, Rājaśekhara, is not ready to accept this lacking point of delectable *Vasanta*. Hence, in his *Karpūramañjarī* he brings even in the spring the Ketaki petals by the superhuman power of Bhairavānanda a magician, so that the heroine would delicately handle it for her sweet love letter.[19] But Nayacandrasūri, in his *Saṭṭaka* i.e. *Rambhāmañjarī* derives consolation from the lacking of one flower in the spring i.e., Jasmine in a different way. He imagines the reason for not blossoming of the Jasmine in the spring as follows : "It is the spring and if even I burst out into blossoms who will care for other flowers."[20] Any way various flowers are the core of attraction in the spring.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

During the spring, the days are longer in their duration than the nights. The poets have fariform and fine fancies annent the reasons for them. The restive but sentimented horses of the sun could not restrain themselves from enjoying bit by bit the amenity of vernal beauty that has set in the pleasure gardens, wide forests, big cities etc. and as such they delayed the sunset. The long sighs of the love-lorn heroines are prolonged along with the days.[21]

The *Malayānila* (breezes blowing in the spring from the Malaya mountain) also called *Dakkhinamāruta* or *Caittānila* is another delicious feature of sheet delight in the poets' decent description of Vernal Nature. The *Malaya* mountain is noted for its rich growth of sandle trees, and the gentle breeze blowing through this is supposed to be very cool and fragrant that enhances the exalted glory of the spring to a greater extent. No poet in Sanskrit or Prakrit literature forgets this *Malayamāruta* even when he briefly thinks of exolling the spring. It has become welneigh a tradition to describe this breezing of the *Dakkhinamāruta* as welcoming or congratulating the hero or the heroine.[22] These spring breezes decently pass through so many places and make even the rippling of the rivers sweet. The slender creepers and plants dance gracefully along with their pretty flowers and sprouts. The pleasantness of the breezy mornings in the spring added by the sweet fragrance of flowers refreshes the mind a great deal. A stanza by Rājaśekhara delineating this *Malayamāruta* is considered to be the best in this field. The *Malayānila* when breezing from lofty mountains of *Lankā* was quite rich at its starting point. While passing through the *Malaya* mountain where many a serpent in the sandle grove was very hungry on account of love sport, and the breeze when swallowed by these hungry serpents *(pavanāśana)* were enervated. Again by the addition of the heavy and long sight of love-lorn ladies the gentle breeeze is reinforced.[23]

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Festival

We also find this spring graciously presented by the Prakrit poets in their works through the rich description of the vernal festival. This spring festival, *Madanotsava* or *Vasantotsava* was being celebrated with flying colours from the fullmoon day of the month *Phālguṇa* to the fifth day of the month Caitra (i.e., black-moon fortnight) *Raṅgapañcamī*. "The season itself was one of much merriment and the genial influence of returning spring was hailed with music and jollity."[24] The whole of the first act of *Ratnāvalī* by Śrīharṣa, in named after this spring festival. Luxurious description of this festival both in Prakrit and Sanskrit is the special feature of this drama. *Manmatha* was worshipped pompously with the tender shoots of the mango beneath the lovely tree *Aśoka*.[25] A shock of surprise makes *Sānumatī* in the *Śākuntalam*, enormously curious about the encroaching cause of prohibition to *Vasantotsava (Vasantosavo padisiddho)*. Sāgarikā, the heroine, in the *Ratnavalī*, when she was enthusing over the queen worshipping the King *Udayana*, on the day of *Madanotsava* remarks that "In our country the portrait was adorned but Lo! here actual Madana is being worshipped."[26] *Viśveśvara* in his *Saṭṭaka Sṛṅgāramañjarī* takes the advantage of this festival to introduce the heroine's marvelous beauty to the King. From the *Daśakumāracaritam* we learn that this celebration of festival was proclaimed on the eve of festival itself (i.e. the previous day).[27] It was never a measly presentation.

Some heroines of the harems, as ladies were taking part in this festivity were exulting at this by arranging a small festival excursion on the outskirts of the city. As already noted that the adoration of *Cupid* was the most striking point of this festivity the female folk on this particular day were enjoying the festivities by way of singing songs on *Cupid*, and dancing cheerfully and making merry with their friends, even with menfolk to their content.[28] Part of the amusement of the people consisted in throwing over each

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

other, by means of syringes, water or fine powder coloured with saffron oe with yellow or red substance *(sindūra)* and scented with perfumes. Thus every thing was an element of joy for them. Rājaśekhara gives a brilliant description of this in his *Karpūramañjarī.*[29]

The *Dvipadikhanda* was a special song usually sung during this festival. The dance in this occasion, is particularly termed as *"Vasantābhinaya".* Even particular dress is also prescribed for this festival. Ladies were permitted to drink wine freely in this festivity.[30] Hāla calls this festival *Phaggucchana (Phalgunotsava)* or *Maanossava.* In a *gātha* this sport of colours is described with a figure of speech - technically known as *'vicitra'.* A friend of the heroine remarks humourously thus - "why do you wash off the decorative mud (colours) flung by some one on your person innocently during the Vernal festivity, even when it (the colour) has been wiped away by the sweat rolling down from the tip of your plumply breasts?" During the days of Hāla, it is clear that, during this festival young girls were wearing thin garments on their body, and as such they, with their attractive limbs lightly covered with colourful attire were captivating the minds of shrewd men.[31]

This colourful and highly rejoiceable situation of festivities becomes to a beloved, merely a village conflagration or a market-day commotion if the lover is out of station. Further Hāla observes that during this, people beaming with joy run after one another with various colours; the hum of the crowd swells and the drums are beaten every where. The noise of syringes, shouting, singing songs and others leave no moment bereft of joy.[32]

Love

It is true with lovers that this *Vasanta* doubles the joy and agitation in union and separation respectively. Prakrit poets lavish their poetic genius in beautifying the ideas and feelings of lovers

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

in *Vasanta*. They are greatly successful in depicting more the inveterate emotions of love embedded in the heart of heroines than the Nature in spring. They take every piece of descriptions like *Aśoka, Cūta, Kurabaka, Candrikā* etc. and frame them with the love-lorn hearts of heroines. Among such poets Hāla is second to none in the whole of the Sanskrit and Prakrit literature.

In the *gāhās* of Hāla we find some heroines keeping their heart of unestimable love unwrapped. Some heroines take this *Vasanta* welneigh the synonym of *Viraha*. They are very much afraid of their husbands' journey when the spring is fast approaching. They feel the anxiety of excruciating love in separation only when *Vasanta* sets in; till then they were not at all simply aware of the gravity of that situation. A lady in separation, when she finds her mind anxious and enormously perturbed confirms the advent of *Vasanta* though its salient features like sprouts of mango *Caitrānila* and others have not yet appeared in the Nature. Another girl realizing the enormity of this spring, with a touch of disappointment bewails of her agony thus : "All these features have appeared in the Nature, yet the husband has not turned up; and perhaps to him work is dearer than me."[33]

It was a custom to place a pot full of water with some mango leaves in it at the doors whenever the husband sets out for or arrives at from his journey. Technically it is called a *Maṅgalakalaśa*. A clever woman suggests a heroine, a good trick to prevent her husband from going abroad, that is to keep the new sprouts of mango along with its bunches on the top of the *Maṅgalakalaśa* so that the husband knowing by that the advent of Vasanta would cancel his journey.[34]

For these love-lorn heroines the sight of the sprouts of mango are like *Halāhala*. Naturally, the sight of a blossomed mango exorts the deep rooted feelings of a lady to come out. A heroine with a deep regret for her helpless condition says thus -- "There is no

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

welfare to those at whose door stands even a small mango tree. For in spring the sprouts come out like an evil, from its top.[35] These sprouts and bunches of *Cūta* and *Aśoka*, though they are tender in nature are causing acute pains to the tender limbs of ladies through the caprices of *Cupid.* Any reader of this *gāhā* will estimate with least doubt that this nice piece of poetry is from the pen of an outstanding poet who is second to none.

Some heroines loose heart for the severe pains advanced by the spring when they see the *Mādhavī (Vāsantī)* creeper blooming slowly, for, it indicates *Vasanta.* Hāla says -- some wives of travellers in their indignant state of separation were in the habit of looking at the doors awaiting their husbands to derive a sort of consolation from that, but, when the bunches of *Mādhavī* at the courtyard adjacent to doors, have appeared even that bit of consolation is entirely lost; because *Mādhavī* bunches agitate these women a great deal when they cast their glances at doors lest giving consolation.[36] It is clear here that the ladies are trying to get rid of this anguish in the form of *Cupid's* chastise.

Another heroine of Hāla partly excoriating her billious plaints solemnly assures her wholehearted love to her husband thus -- "I am speaking veracious words Oh! young boy! I have not the least gone to unchastity eventhough the smell of *Kurabaka* flowers has reached my nose. For, nothing is impossible for this spring to perform.[37] She is divulging her words in despair, and pinning plaints anent her husband who has not returned though the spring has broken out. In first place she calls the hero a 'dullard', because he has not come back even though the spring has started causing mental harassment. This is like a love-letter to her husband. She warns that this spring can very well bring any kind of disgrace to her chastity, any time thus disheartening her. She is doubtful about her wrong step that she may take in his prolonged absence. She plaints that the functionings of the spring are disincentive enough

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

to her defence of chastity; because ouder of *Kurabaka* has already knocked her nose. Yet she promises him scrupulously that her mind had not gone outside the premise which are in the high rank of esteemed poetry. Every word of this so called love-ditty is significant. We can find here five points in echelon. At first the spring to which nothing is impossible has broken out. Secondly, yet he has not returned, hence he is definitely a dullard. Thirdly the sweet smell of Kurubaka is reaching slowly the tip of her nose through gentle breezes. Fourthly, still her mind as it is scrupulously exact, is not nourishing evil thoughts. In fifth place she is avoching this with all faith *(saccambhaṇāmi)*. Thus the charm of this ditty is indescribable.

Another lady in view of her pangs of love observes at the spring in a different way. She was prevented from going out for the sake of death, by her mother-in-law, as the *Malayamāruta*, full of strong fragrance was blowing like a facer. "But", she says -- "who is to die surely on account of the scent of the *Aśoka* tree (which blossoms in the spring only) must die.[38] She rises in desperation against her life in this state of deprecation.

It is very interesting to note the observation of a lady with enormous pains gifted by *Cupid*, on the spring, who did not wish to waste the rejoices of the spring. She was deprived off her union with her husband nearly for six months by her pregnancy. After her delivery again it took five or six months for the rise of teeth to her child. It is for this that she was suppressing her vehement longing for love sport that according to the *Dharmaśāstra* the union of the husband and wife after delivery is permitted only after the rise of teeth to their child.[39] Now the lady, when she finds the teeth in the mouth of her child, is immensely saliated, and thus she waits for the inclination of her husband for a few days. But, when she found her husband reluctant, in view of the advent of *Vasanta*, she a with a smile plainly gives her child to her husband and expedites

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

him in testing the growth of teeth thus justifying herself worthy of union.[40] Her dextrous style and tricky way of divulging deviously her vehement desire is appreciable.

Vasanta captivates even the unsentimented minds of travellers let alone the sentimented travellers. Hāla says, the travellers though they are not interested in songs like very much the love-songs on separation sung captivatively in the forests by the cowherds, because the forest was beautified by the fabulous paraphernalia of the spring. The red sprout of the mango is like the sharp dart in the hand of *Cupid*, tinged with a lot of blood and as such the deplorable travellers have a very sad look at these annoying sprouts.[41] However, their anguish used to reach sharply the crisis at the advent of *Vasanta*.

Thus, we can see how these Prakrit poets lavish care on the presentation of *Vasantas's* different aspects. Unlike some Sanskrit poets who describe *Vasanta* as if in a traditional way, these Prakrit poets like good research scholars try to trace new points on *Vasanta*. In this regard Hāla's contribution is unique. Hāla, though he compiles these stanzas of some others, with the addition of his own *gāhās* made the *Sattasaī* a landmark in Prakrit literature.

Most of the poets whose works are quoted here have made the best use of *Mahārāṣṭrī* Prakrit dialect. The soft words of this dialect are the most suitable to deal with the spring which is supposed to be the most delightful season in the year. Some prose passages quoted here are also in *Śaurasenī*. The Prakrit poets reserve as if some choice words to bring much force to the meaning especially when dealing with the *Viraha* aspect of *Vasanta*.

The first aspect i.e., the Nature finds abundant scope in Sanskrit literature whereas the other two viz., festival and love (or *viraha)* are acquisitive of more scope in Prakrit literature. The reason for this is that Prakrit poets are more interested in depicting

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

the life of common people, for, the word Prakrit itself is of this meaning. Larger number of common people was participating in the festival and as such Prakrit passages or verses abound in this aspect. If most of the verses of vernal description by Sanskrit poets are confined to the premises of palacial walls, and presented to the royal members, the verses of Prakrit poets are as if aimed at the justification of the point -- "literature is the mirror of common life" and are brought to the doors of common people. Hence, in the *gāhās* of *Sattasaī* we find exclusively the *Viraha* of common men, especially of women who cannot speak in Sanskrit even in dramas.

In some cases this Vasanta is considered by some heroines as the master of *Vipralambha.* Prakrit poets are aware of the gravity of situation pertaining to the *Vipralambha* of village ladies. In the verse of these authors the affliction of the ladies increasing by actimorious manners of *Cupid,* the pet friend of *Vasanta* is implicit. Some of these cuplets especially the *gāhās* of *Sattasaī* seem to be inexplicable on account of want of relevant context, but a correct understanding with reference to the context will definitely bring clearance to the sweetness of the meaning. Some of these verses serve the purpose of a love-ditty or love-letter. Any way these literary piece of Vasanta are careful choices of poets in beauty and matter. The felicity of these pieces can easily arrest the hearts of readers.

Like *Sattasaī,* the *Vajjālaggam* of Jayavallabha also contributes to this field its heart-touching lyrical verses. Prakrit poets are solicitous to parade their brilliance in different designs of *Viraha* and as such the felicitous compositions on *Vasanta* and *Cupid* are marked by the poet's diligence. One can appreciate the acute observation of these authors, especially the authors of *Sattasaī* while forming variously the *viraha* aspect in their own brilliant structure. Some of these verses of *Vipralambha* announce us how the stupidity and caprices of *Cupid* drive the lovers to dispair in

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

the spring. The comradeship of *Vasant* and *Manmatha* is rightly noted by Rājaśekhara that *Vasanta,* as he is very delicate, first makes the minds of lovers very delicate and then *Manmatha* pierces his sharp arrows. Thus the atrocity of Cupid is faciliated by *Vasanta.*

Some of these verses introduce the pining plaints and the passionate out bursts of the heroines before their mother-in-law, marternal aunt *(māmī),* friends and others. A reader can find the heart and soul of the heroine enwrapped in it. It seems that these verses of *viraha* in *Vasanta* especially in the *Sattasaī* might have given rise to the conception of love-letter in latter dramas. In this we can see that all these points, the description of Nature, the festival and *viraha* in the spring, have furnished exuberant imaginations, and much matters to the plot construction of the latter dramas in Sanskrit and Prakrit. With their felicitous style these literary pieces of vernal beauty appeal to the hearts of readers as if with their serene smile.

References

1. वणयतुरयाहिरूढो अलिउलझंकारतूरणिग्घोसो।
पत्तो वसंतराओ परहुयवरघुट्ठजयसद्दो ।। — Vajjāllaggam- 630.
cp. Candalehā- I, 19, 20 & 21.

2. a) उग्गाउं महुरं च महाव-महाबंदी जसं कोइलो। — Ibid, I,22.

(b) पच्चुवज्जइ चंचलीअ-णिवहो फुलुप्पडंतो जवा।
कूअंता अ कुणंति कोइल-उला सोत्तामिअं साअदं।। — Ibid, I,20.

cp. आगओ वसंतसमओ। .... अणंतरं च तस्स चेव जयजयसद्दो व्व कोइलाहिं कओ कोलाहलो .....:। — Samarāiccakaha, II, p. 2. (1953).

3. पत्तो वसंतूसवो.......। — Rajaśekhara, Karpūramañjarī, I Act.

4. एदं क्खु भवंतं विअ विलोहइदुकामाए पमदवणलच्छीए जुवदीवेसलज्जावअत्तिअं वसंतकुसुमणेवत्थं गहीदं। — Mālavikāgnimitraṁ, III Act.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

cp. Ibid, III, 4 & 5.

cp. Vikramorvaśīyaṁ, II, 7.

5. लंकालआणं पुत्तअ वसंतमासेक्कलद्धपसराणं।
आपीअलोहिआणं वीहेइ जणो पलासाणं।।

— G.S. (Gāthā Sattasaī), VI. 11.

cp. Vajjālaggaṁ, 637.

6. a) cp. मूले सामलमग्गलग्गभसलं लक्खिज्जए किंसुअं।
Karpuramañjarī, I.16.
cp. G.S. VI.88.
also cp. Candalehā, I.25.

b) गय वइयामसाण-जलणेहि विव पलित्तं दिसामंडलं किंसुअकुसुमेहिं त्ति।
Samarāiccakahā, II.

7. किं शुकस्य वदने रुचिरत्वं किं शुकस्य हृदयेऽपि वशित्वं।
किं शुकस्य कुसुमेषु नदन्ती शंसति स्म मधुपालिरितीव।।

— *Campūbhārata, 1-69.*

8. आतम्महरिअपंडुर जीलिदसत्तं वसंतमासस्स।
दिट्ठोसि चूदकोरअ उदुमंगल तुमं पसाएमि।।

— Śākuntalaṁ, VI. Act-2.

cp. दीसइ ण चूअमउल, अत्ता! ण अ वाइ मलअगंधवहो।
पत्तं वसंतमासं साहइ उक्कंठिअं चेअम्।। — G.S., VI.42.

9. चूतयष्टिरिवाभ्यशे मधौ परभृतोन्मुखी । — Kum, VI.2.

10. अंबेवणे भमरउलं ण विणा कज्जेण ऊसुअं भमइ।
कत्तो जलणेण विणा धूमस्स सिहाउ दीसंति।।

— Sattasaī,(G.S.), VI. 43.

cp. The sprouts of mango, though they are tender in nature are considered to be one of the sharp arrows of Cupid.

cp. कुसुमाउह पियदूअओ मुअलीकिदबहुचूदओ।

-- Ratnāvalī, I Act, 13, 14 & 15.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

11. ओसरसु सिसिरनरणवर लद्धा पुहवी वसंतेण। -- Vajjālaggam 635.

12. सहआरसाहिसिहरे किसळअ सअळणिअप्पिअ विदिण्णं।
चंचुपुटे णिवेसिअ कूअइ महुरं कुहूमुहप्पमदा।।
-- Cokkanātha, Sevantikāpariṇayanāṭaka, (Mysore) III Act-5. (1959)

13.a) मत्तगहुअरमुत्तंडझंकार-मिलिदन्महुअर-कोइलाराव संगीदादिसुहं ....।
- Ratnāvalī, I Act.

cp. Candalehā, I act (Ed. by Upādhye), p. 9.

b) Karpūramañjarī, I.18.

cp. Nayacanda- Rambhāmañjarī, I act.

14.a) विरहग्गिडझ्झंत-पथियसंघाय-धूमपडलं व वियंभियं सहयारेसु भमरजालं ..।
- Samarāiccakahā, II.

b) .... कसणमणिमेहल व्व महुमासलच्छीए। — Sattasaī, VI.74.

15.a) मकुलावलिका-हला तुमं दाणिं देवीए जोग्गदाए णिउत्ता। ता एक्कं चलणं उवणेहि। — Mālavikā, III.

b) असोअतरुताडणं रणिदणेउरेणंहिणा .....। —Karpūramañjarī, II.47.

cp. Mālavikā, III act. 17.

cp. Meghadūta, 80.

16. ताविज्जंति असोराहिं लडहवणिआओ दइअविरहम्मि।
किं सहइ कोवि कस्स वि पाअप्पहारं पदुप्पंतो।। — Sattasaī, I.7.

17. दोहलि-अमप्पणो किं ण मग्गसे मग्गसे कुरवअस्स। — Ibid, I.6.

18. कुरवअतिलअअसोआ आलिंगणचंपणग्गचलणहआ।
विअसंति कामिणीणं ता ताणं देहि दोहलअं ।।
— Karpūramañjarī, II act. 43.

cp. Ibid, II.44, 45, 46 & 47.

19. महुसमये कधं केदईकुसुमं? — Karpūramañjarī II.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

20. एक्को वंसतसमओ अन्नं जइ फुल्लिया जाई।
इयराओ वल्लीओ ता मुणिहि को वराईओ।।
— Nayacandrasūri, Rambhāmañjarī, I.30.

21.a) Karpūramañjarī, I.21.

b) सह दिवसणिसाहिं दीहरा सासदंडा। — Ibid, II.9.

22. Karpūramañjarī, I act;
Candalehā, I act;
Rambhāmañjarī, I act;
Vikramorvaśīyam, II act.

23. जे लंकागिरिमेहलाहिं खलिदा संभोअखिण्णोरई
फारप्फुल्लफणावलीकवलणे पत्ता दरिद्दत्तणं ।
ते एण्हिं मलआणिला विरहिणीणीसाससंपक्किणो
जादा झत्ति सिसुत्तणे वि बहला तारुण्णपुण्णा विअ।।
- Karpūramañjarī, I.20.

cp. Candalehā, I.24, II.2.

24. H.H. Wilson, *Select Specimens of Theatre of the Hindus* (1871), p. 268.

The *Bhaviṣyottara Purāṇa* gives details about the celebrations of this *Vasantotsava* or *Vasanta yātrā*, I.25. Now, it is celebrated as the *Holī*-festival.

25. चूअप्पसवं गेह्णिअ संपादेमि कामदेवस्स अच्चणं। -Śākuntalaṁ, VI.

cp. Ibid, VI.3, Ratnāvalī, I act, Rambhāmañjarī, II.11.

26. कहं पच्चक्खो एव्व भअवं कुसुमाउहो इह पूजां पडिच्छदि।
अम्हाणं तादस्स अंतेउरे उण चित्तगदो अच्चीअदी। -Ratnāvalī, I.

27. श्वः कामोत्सवः ......। - Daśakumāracaritaṁ, M.R. Kale, p. 71

28.a) अन्नया पयत्ते मयणमहूसवे कीलाणिमित्तं पयट्टो रहवरे .....।
-Samarāiccakahā, VI.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

cp. रावं च समागओ महुमासो। तंमि य पयत्ते मयणमहसवे निग्गये नयरिजणवरा उज्जाणेसु .... ।

-Bambhadattacariyam, Ed. Upadhye (1940), p. 75.

b) Ratnāvalī, I Act- 13-15.

Karpūramañjarī, VI. 10-17.

cp. अन्नया मयणमहूसवे जाण पवन्नासु णाणाविहासु लोग चच्चरीसु नच्चन्तेसु तरुणतरुणीगणेसु ..... । -Bambhadattacariyam, p. 28.

29. मोत्तूण अण्णा मणिवारआइं जंतेहि धारासलिलं खिवंति।

- Karpūramañjarī, IV,13.

30.a) विदूषक: — पेक्खदाव महुमत्तकामिणीजण .... । - Ratnāvalī, I act.

cp. वसंता भिणअं पच्चन्तं .... । — Ibid.

b) दइअकरग्गहलुलिओ धम्मिल्लो सीहुगंधिओ वअणं।

मअणम्मि एत्तिअं चिअ पसाहणं हरइ तरुणीणं ।। - Sattasaī, VI,44.

31. फग्गुच्छणणिद्दोसं केण वि कद्दमपसाहणं दिण्णम् ।

थणअलसमूहपलोट्ठन्तएअधोअं किणो धुअसि।। — Ibid, IV,69.

cp. अज्जवि सोअजलोल्लं पव्वाइ ण तीअ हलिअ सोह्णारा।

फग्गुच्छण-चिक्खिल्लं जं तह दिण्णं थणुच्छंगे ।।

Quoted by Jagannath Pathak in his comm. on Ibid.

32. उप्पहपहाविहजणो पविजिंहिअकलअलो पअहतूरो।

अव्वो सो च्चेअ छणो तेण विणा गामडाहो व्व।। - Ibid, VI,35.

33. दिट्ठा चूआ अग्घाइआ सुरा दक्खिणाणिलो सहिओ।

कज्जाइं व्विअ गुरुआइं, मामि! को वल्लहो कस्स।। — Ibid, I,97.

34. हरिहिइ पिअस्स णवचूअ-पल्लवो पढममञ्जरिसणाहो।

मा रुवसु, पुत्ति! पत्थाणकलसमुहसंठिओ गमणम् ।। — Ibid, II,43.

35.a) Candalehā, II.8;

Sattasaī, I,62.

b) खेमं? कंतो खेमं? जो सो खुज्जंबओ घरद्दारे।

तस्स किल मत्थआओ को वि अणत्थे समुप्पण्णो।। - Ibid, V,99.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

36. लुम्बीओ अङ्गणमाहवीणं दारग्गलाउ जाआउ।
आसासो पांथपलोअणे वि पिट्ठो गअवईणं।। - Sattasai,, IV.22.

37. सच्चं भणामि, बालअ! णत्थि असक्कं वसन्तमासस्स।
गंधेण कुरबआणां मणं पि असइत्तणं ण गआ।। — Sattasaī, III.19

38. Ibid, V.97

39. षण्मासान् कामयन् मर्त्यो गर्भिणीमेव च श्रियम् ।
आदन्तजननादूर्ध्वमेवं धर्मो विधीयते।। — Atri Smṛti

40. गेह्लह पलोअह इमं! पहसिअवअणा पइस्स अप्पेइ
जाआ सुअपढमुब्भिभ्भदंतजुअलंकिअं बोरं।। — Sattasaī, II.100

41. a) Ibid, II.28, V.43.
b) कामस्स लोहिउप्पङ्गराइअं हत्थभल्लं व ।। - Ibid, VI.85.

●

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

श्रमण

साहित्य-सत्कार

महामनीषी आचार्य श्री विद्यासागर – जीवन एवं साहित्यिक अवदान : लेखक डॉ० विमलकुमार जैन : प्रकाशक- ज्ञानोदय संस्थान, जैन बाग, वीर नगर, सहारनपुर, १९९६ ई०; पृष्ठ ६७६, मूल्य- १०० रुपये।

चौदह अध्यायों में विभक्त इस विशाल ग्रन्थ के प्रारम्भिक चार अध्यायों में आचार्यश्री के जीवनवृत्त, स्फुट साहित्य, प्रवचन एवं हिन्दीकाव्य संग्रह, काव्यानुवाद, संस्कृतशतकसाहित्य आदि का विस्तृत परिचय प्रस्तुत किया गया है। पांचवें अध्याय से १३वें तक उनके प्रबन्ध काव्य- **'मूकमाटी'** का गहन अध्ययन और चौदहवें में उनके समग्र साहित्यिक अवदान का मूल्यांकन है।

आपका जन्म कर्नाटक के बेलगाम जिलान्तर्गत सदलगा नामक ग्राम में १० अक्टूबर १९४६ ई० को मल्लप्पा नामक साहूकार की धर्मपत्नी श्रीमतीजी की कुक्षि से हुआ था। इनका पारिवारिक नाम **विद्या** था। इनके माता-पिता धर्मपारायण थे। बचपन से ही बालक के हृदय में तीर्थों और साधु-सन्तों के प्रति असीम लगाव था। आचार्यश्री शान्तिसागर जी के प्रवचनों से इनके अन्तःकरण की शुद्धि हुई। इनकी स्मरणशक्ति अद्भुत थी। ये जो भी चीज एक बार पढ़ते थे उसे कण्ठस्थ कर लेते थे। अत: लोग इन्हें गिनी कहते थे। कन्नड़ में गिनी तोते को कहते हैं। यद्यपि खेलकूद और चित्रकला आदि में इनकी रुचि थी पर धर्मभावना क्रमशः अभिवृद्ध हो रही थी। बीस वर्ष की आयु में चुपके से जयपुर जाकर आचार्य देशभूषण के चरणों में उपस्थित होकर इन्होंने ब्रह्मचर्य व्रत लिया। हासन (कर्नाटक) के तीर्थ श्रवणबेलगोला स्थित भगवान् गोम्मटेश्वर की विशाल प्रतिमा का महामस्तकाभिषेक का धर्मोत्सव देखकर इनमें धर्मभावना और दृढ़ हुई और वे मदनगंज (किशनगढ़) में विराजमानमुनि श्री ज्ञानसागर जी महाराज की सेवा में जा पहुँचे। वहां आपने पं० महेन्द्रकुमार शास्त्री से हिन्दी और संस्कृत का अच्छा ज्ञान प्राप्त किया साथ ही व्याकरण, छन्द, नीति आदि पर संस्कृत-प्राकृत भाषा में रचे गये ग्रन्थों का गहन अध्ययन किया। आचार्य ज्ञानसागर जी दिगम्बर सम्प्रदाय के एक अत्यन्त प्रभावशाली सन्त थे। उन्होंने विद्याधर को (३० जून १९६८) को

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

दीक्षा देकर विद्यासागर नाम रखा और २२ नवम्बर १९७२ को नसीराबाद में इन्हें आचार्य पद पर प्रतिष्ठित किया। आपकी मातृभाषा कन्नड़ थी, परन्तु आपने राष्ट्रभाषा हिन्दी को अपनी रचनाओं द्वारा समृद्ध किया। आप हिन्दी के अलावा बंगला, संस्कृत, प्राकृत और अंग्रेजी भाषा के न केवल अच्छे जानकार बल्कि उत्तम रचनाकार भी हैं। आपकी रचनाओं का शुभारम्भ गुरु-वन्दना से हुआ और आपने अपने आम्नाय के गुरुजनों की स्तुति में पूज्य आचार्यश्री शान्तिसागर जी महाराज की स्तुति, आचार्यश्री वीरसागर, आचार्यश्री शिवसागर तथा आचार्यश्री ज्ञानसागर जी की स्तुतियां रचीं। १ जून १९७३ को आचार्यश्री ज्ञानसागर जी का देहावसान हुआ और इसी वर्ष के चातुर्मास (व्यावर) में **आचार्यश्रीज्ञानसागरस्तुति** की रचना की। उसी समय **निजानुभवशतक** (हिन्दी का प्रथम शतक) रचा गया। संस्कृत में आपकी प्रथम रचना **शारदास्तुति** (१९७१) है। स्तुतियों का अलावत आपने **इष्टोपदेश, समाधितन्त्र, कल्याणमन्दिरस्तोत्र, एकीभावस्तोत्र** और **योगसार** का हिन्दी पद्यानुवाद किया। फिर **श्रमणशतकम्** (संस्कृत का प्रथम शतक) के पश्चात् **भावनाशतकम्** तथा उनके हिन्दी पद्यानुवाद आपने स्वयं किये। **समणसुत्तं** का हिन्दी पद्यानुवाद आपने वसन्ततिलका छन्द में **जैनगीता** नाम से १९७५ में किया। आपने कुन्दकुन्द के **समयसार** का हिन्दी पद्यानुवाद **कुन्दकुन्द का कुन्दन** के नाम से १९७७ में किया। १९८० में **स्वयम्भूस्तोत्र** का हिन्दी अनुवाद **समन्तभद्र की भद्रता** के नाम से किया। **नर्मदा का नरमकंकर** की रचना **अतुकान्त छन्द** में की गयी है। **डूबो मत- डुबकी लगाओ** नामक काव्य ग्रन्थ का अतुकान्त छन्द में प्रथम बार १९८४ में प्रकाशन हुआ। **तोता क्यों रोता** भी अतुकान्त रचना है।

आपका रचना संसार विशाल है जिसमें १४ काव्य ग्रन्थ प्रकाशित हैं। २५ अन्य संस्कृत और हिन्दी आदि की रचनायें भी उपलब्ध हैं; किन्तु इनमें इनकी सर्वश्रेष्ठ कृति **मूकमाटी** नामक रचना है जो अप्रैल १९८४ में प्रारम्भ होकर १९८७ में पूर्ण हुई। विद्वानों की मान्यता है कि आधुनिक युग में **कामायनी** ही एक ऐसी कृति है जिसके साथ **मूक-माटी** की महाकाव्यात्मक और रहस्यात्मकता की दृष्टि से समीक्षात्मक तुलना की जा सकती है। जिस प्रकार **कामायनी** रहस्यात्मक है उसी प्रकार **मूक-माटी** भी है। कामायनी का नायक मनु ध्वस्तदेवजाति का बचा प्रतीक है जो श्रद्धा का सम्बल ग्रहण कर नई सृष्टि का निर्माण करता है। **मूक-माटी** की नायिका माटी (आत्मा) भव भवान्तरों और विभाओं से पददलित है और अपने अभ्युदय के लिये अपनी माता धरतीरूपी अन्तस्चेतना से प्रबुद्ध आस्था अपनाने का सन्देश प्राप्त करती है। **कामायनी** का मनु आगे चलकर श्रद्धा का त्याग कर इडा (बुद्धि का प्रतीक) के पास जाता है किन्तु वहां भी उसके साथ वह बौद्धिक व्यभिचार कर बैठता है। वैसे ही जैनदर्शन के अनुसार **मूक-माटी** सन्देश देती है कि सम्यक् दर्शन के बिना सम्यक् ज्ञान नहीं होता

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

और सम्यक् चारित्र का अवलम्ब प्राप्त करके ही **मूक-माटी** रूपी मुमुक्षु जीव परिपक्व कुम्भ का स्वरूप धारण कर शिवानन्द के मार्ग पर चल सकता है। दोनों ही प्रबन्ध काव्यों में कथावृत्त अत्यन्त सूक्ष्म है जिसे जिज्ञासु पाठक पढ़ कर आनन्दित हो सकते हैं।

आचार्यश्री के प्रवचनों का विशाल संग्रह ज्ञान-विज्ञान की अनेक जानकारियों से परिपूर्ण है। आपश्री बहुभाषाविद् ही नहीं बल्कि उनके सशक्त रचनाकार भी हैं जैसे— बंगला, कन्नड़, संस्कृत, अंग्रेजी आदि कई भाषाओं में उन्होंने मौलिक रचनाएँ की हैं। बंगला में लिखी हुई आपकी कविता की दो पंक्तियाँ उदाहरणार्थ प्रस्तुत हैं —

''अर्थ इ अनर्थेर मूल। ताहार त्याग परमार्थोर चूल

ताइ सुजनेरजन्य। शेसदा धूल''

कन्नड़ में आपने पर्याप्त मौलिक साहित्य रचा है। इसी प्रकार अंग्रेजी की एक कविता My Self द्वारा इनके आंग्ल भाषा में काव्य सृजन की क्षमता का अनुमान लगाया जा सकता है। आपने अनेक भाषाओं की श्रेष्ठ रचनाओं का प्रचुर मात्रा में रूपान्तरण भी किया है। **मूक-माटी** के मुक्त छन्द में वर्णित प्रकृति के एक सुन्दर चित्र की कुछ पंक्तियाँ प्रस्तुत है—

''लज्जा के घूंघट में, डूबती सी कुमुदनी,

प्रभाकर के कर छुवन से, बचना चाहती है वह,

अपने पराग को, सराग मुद्रा को, पंखुरियों की ओट देती है।''

ग्रन्थ के प्रणेता प्रो० विमलकुमार जैन ने इसके परिशिष्ट में हिन्दी, संस्कृत, प्राकृत और अंग्रेजी के २३८ ग्रन्थों की सूची देकर बड़ा ही महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। उन्होंने प्रसंगत: आचार्यश्री के भाषा, छन्द, काव्यशास्त्र और काव्यरूपों के परिनिष्ठित प्रयोग का उपयोगी परिचय देकर पाठकों का बड़ा उपकार किया है। ऐसे विशिष्ट ग्रन्थ का प्रणयन करके प्रो० जैन ने न केवल जैन समाज का प्रत्युत बृहद्त्तर हिन्दीभाषी पाठकों का बड़ा उपकार किया है। ग्रन्थ के अन्त में देश के ३० विद्वानों की सम्मतियां हैं जिनमें प्रभाकर माचवे, विजयेन्द्र स्नातक, लक्ष्मीचन्द्र जैन, नेमिचन्द जैन, श्री शेख अब्दुल वहाव, पद्मश्री लक्ष्मीनारायण दुबे और डॉ० राममूर्ति त्रिपाठी जैसे विद्वानों ने आचार्यश्री के व्यक्तित्व और कृतित्व की भूरि-भूरि प्रशंसा की है। इस विशिष्ट ग्रन्थ द्वारा पुस्तक प्रणेता ने आचार्यश्री विद्यासागर जी महाराज के महान् व्यक्तित्व और विशाल कृतित्व का परिचय देकर हिन्दी पाठकों का उपकार किया है, एतदर्थ वे बधाई के पात्र हैं।

वसुदेवहिण्डी : भारतीय जीवन और संस्कृति की बृहत्कथा, लेखक — डॉ० श्रीरंजनसूरिदेव। प्रकाशक — प्राकृत जैनशास्त्र और अहिंसा शोध संस्थान,

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वैशाली; प्रथम संस्करण सन् १९९३ ई०; आकार—रायल अठपेजी; पृष्ठसंख्या ६३१, मूल्य रु० २५०/-

वसुदेवहिण्डी का तात्पर्य है — हरिवंश के शलाकापुरुष वसुदेव (वासुदेव के पिता) का हिण्डन अर्थात् घूमना-फिरना, यात्रायें करना। इस बृहत्कथा में गद्य की अत्यन्त ज्ञानवर्द्धक विधा 'यात्रा वर्णन' और दूसरी अति लोकप्रिय मनोरंजक विधा 'कथा आख्यायिका' का अनूठा मणिकांचन योग होने के कारण यह समग्र प्राकृत कथा साहित्य की विशिष्ट रचना बन गई है। इस कथा के लेखक जैनाचार्य संघदास का समय तीसरी से छठी शती के बीच माना जाता है। आल्सडोर्फ ने अपनी पुस्तक **अपभ्रंश स्टडियन** (सन् १९३७ लिपजिंग) में बताया है कि इस धर्मकथा पर गुणाढ्य कृत पैशाची की प्रसिद्ध कृति **वड्डुकहा** का पर्याप्त प्रभाव है। यह एक प्रकार से **वड्डुकहा** का जैन रूपान्तरण है। इसमें प्रसंगवश या दृष्टान्त रूप में अनेक कथायें, उपकथायें जैसे रामकथा, कृष्णकथा तथा अनेक अन्य पौराणिक कथायें, आख्यान, लोककथायें और पशुकथायें इस प्रकार प्रमुख कथासूत्र में गूथी गई हैं जैसे किसी हार में नाना रत्न जटित किये गये हों।

आज अपनी विस्तृत और दुर्गम यात्राओं के लिए जैसे महापण्डित राहुल सांकृत्यायन प्रसिद्ध हैं उसी प्रकार वसुदेव भी महान् यायावर थे और वे देश के जिन भागों में यात्रा करते गये उनके यात्रा के उन प्रदेशों के जनजीवन, लोकाचार, संस्कृति-खानपान, रहन-सहन का बड़ा जीवन्त चित्रण इस बृहद् ग्रन्थ में धर्मदास-संघदास गणि ने किया है। यह रचना प्राकृत गद्य में लिखी गई है, इससे ज्ञात होता है कि प्राकृत में उस समय (तीसरी-चौथी शती) गद्यबद्ध कथा-आख्यायिका लेखन का चलन अवश्य रहा होगा। इस गद्य रचना में महान् यायावर वसुदेव के प्रवास की मुख्य कथा को अनेक उपकथाओं के साथ मनोहारी ढंग से प्रस्तुत किया गया है। डॉ० जैकोबी का अनुमान है कि इस कथा का परवर्ती जैन कथा-साहित्य पर पर्याप्त प्रभाव पड़ा। कलिकालसर्वज्ञ जैनाचार्य हेमचन्द्र की प्रसिद्ध कृति **त्रिशष्टिशलाकापुरुषचरित** का वे इसे प्रमुख स्रोत बताते हैं। डॉ० श्रीरंजनसूरिदेव ने इसी प्रसिद्ध ग्रन्थ का विशद् अध्ययन इस शोधप्रधान ग्रन्थ के पाँच अध्यायों में किया है। विद्वान् लेखक ने उक्त ग्रन्थ का सम्यक् विवेचन करके उसके महत्त्व पर विशद् प्रकाश डाला है।

इसके विभिन्न अध्यायों में जैन परम्परा की रूढ़ कथाओं जैसे सृष्टि प्रक्रिया, हरिवंशोत्पत्ति, कोटिशिलोत्पत्ति, अष्टापदतीर्थोत्पत्ति के साथ भारतीय विद्या, कला, उनके सिद्धान्त और प्रयोग, ज्योतिष, आयुर्वेद, धनुर्वेद, वास्तुशास्त्र, कामशास्त्र और रमणीय कलाओं आदि का विशद विवेचन लेखक ने किया है। ग्रन्थ के प्रथम अध्याय में **वसुदेवहिण्डी** के स्रोत और स्वरूप पर, तथा गुणाढ्य की **वड्डुकहा** के प्रकाश में

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इसकी कथा तथा कथनशैली पर प्रकाश डाला गया है। द्वितीय अध्याय में इस बृहत्कथा में विन्यस्त विविध कथाओं का विवेचन किया है। तृतीय अध्याय में वसुदेवहिण्डी मे वर्णित पारम्परिक विद्याओं का आलोचनात्मक विवेचन ब्राह्मण एवं श्रमण परम्परा की तुलना में प्रस्तुत किया गया है। चतुर्थ अध्याय **वसुदेवहिण्डी** में प्रतिबिम्बित तत्कालीन भारतीय जनजीवन और संस्कृति का भव्य चित्र प्रस्तुत करता है। पाँचवें अध्याय में **वसुदेवहिण्डी** का भाषिक एवं साहित्यिक मूल्याङ्कन बड़े विद्वत्तापूर्ण ढंग से विवेचित है। निष्कर्षत: इस श्रेष्ठ ग्रन्थ के प्रणेता ने सिद्ध किया है कि यह महत्कथाकृति भारतीय औपन्यासिक कथा-साहित्य के पार्यन्तिक और पांक्तेय आदिग्रन्थो में अपना विशिष्ट स्थान रखती है।

लेखक ने इस ग्रन्थ को कथाविधा के अन्तर्गत स्वीकार करते हुए इसके साहित्यिक सौन्दर्य का साहित्यशास्त्रीय और सौन्दर्यशास्त्रीय मानदण्डों पर विशद् विवेचन प्रस्तुत करके जैन वाङ्मय को समृद्ध किया है। डॉ० जगदीशचन्द्र जैन ने **वसुदेवहिण्डी** का आंग्ल रूपान्तरण सन् १९७७ ई० में करके सामान्य पाठकों (प्राकृत न जानने वाले) के लिए अध्ययन का मार्ग खोला था। डॉ० श्रीरंजनसूरिदेव ने उसका हिन्दी में विस्तृत अध्ययन प्रस्तुत करके इसे सर्वसुलभ बनाने का महत्त्वपूर्ण कार्य सम्पन्न किया है, एतदर्थ वे पाठकों के साधुवाद और बधाई के पात्र हैं।

डॉ० शितिकण्ठ मिश्र
पूर्व प्राचार्य, डी०ए०वी० डिंग्री कालेज,वाराणसी।

•

संवेग और आहार — लेखिका— (डॉ०) अर्चना जैन; प्रकाशक, ज्ञानोदय विद्यापीठ, भोपाल, प्रथम संस्करण १९९८ ई०, पृष्ठ ६+१२; आकार—डिमाई, मूल्य—२५ रुपये मात्र।

प्रस्तुत पुस्तक डॉ० अर्चना जैन द्वारा लिखित और सागर विश्वविद्यालय द्वारा पी-एच०डी० की उपाधि के लिये स्वीकृत शोधप्रबन्ध का मुद्रित रूप है। वस्तुत: जैसा व्यक्ति का आहार होता है वैसा ही उसका विचार भी हो जाता है। यदि व्यक्ति शाकाहारी है तो उसका विचार भी सात्विक होगा और इसके विपरीत मांसाहारी व्यक्ति का विचार भी कलुषित होता है। आज जब सम्पूर्ण विश्व में शाकाहार अपनाने पर बल दिया जा रहा है, वहीं अपने देश में मांसाहार का दिनों-दिन प्रचार बढ़ता जा रहा है। नित्य नये-नये यान्त्रिक कत्लखाने खुल रहे हैं। इसका दुष्परिणाम मानव के नैतिक पतन और पर्यावरण के असंतुलन के रूप में हमारे सामने है। नित्य नई-नई समस्यायें उत्पन्न हो रही हैं और उनका कुछ भी निदान नहीं हो पा रहा है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मनुष्य एक शाकाहारी प्राणी है किन्तु अपने स्वाद के लिये उसने मांसाहार को अपना लिया है। आज वैज्ञानिकों ने गहन शोध कर यह निष्कर्ष निकाला है कि शाकाहार की तुलना में मांसाहार न केवल अधिक खर्चीला बल्कि हानिकारक भी है साथ ही यह देश के सामाजिक और आर्थिक ढांचे को भी पंगु बना देता है।

प्रस्तुत पुस्तक में विदुषी लेखिका ने अत्यन्त श्रमपूर्वक ४ से ६ वर्ष के बालक-बालिकाओं के सामिष और निरामिष आहार को आधार बनाकर उनके संवेगों— करुणा, क्रोध, ईर्ष्या, क्रूरता, भय और घृणा— का अध्ययन प्रस्तुत किया है और यह निष्कर्ष निकाला है कि निरामिषाहारी बालकों में करुणा अधिक है जबकि ईर्ष्या व क्रूरता सामिषाहारी बालकों में अधिक है। क्रोध और घृणा भी सामिषहारियों में ही अधिक देखी गयी। शोधप्रबन्ध ५ अध्यायों में विभक्त है। प्रथम अध्याय में संवेग के स्वरूप का संवेगात्मक विकास दर्शाया गया है। इसके अन्तर्गत संवेगों का वर्गीकरण, विभिन्न अवस्थाओं में संवेगात्मक विकास, बालकों में संवेगात्मकता को प्रभावित करने वाले कारक, बालकों के संवेगों की विशेषतायें, संवेगात्मक प्रभुत्व और बालकों के संवेगों के महत्त्व की चर्चा है। द्वितीय अध्याय में मानव आहार का तुलनात्मक परिचय दिया गया है। इसके अन्तर्गत आहार और पोषक तत्त्व, आहार और शरीर-संरचना, आहार और स्वास्थ्य, आहार और आर्थिक आधार, आहार और पर्यावरण संतुलन, आहार और सौन्दर्य बोध, आहार और नैतिक आधार, आहार और धार्मिक विचार, आहार और मनोविज्ञान, वनस्पति और पशु-पक्षियों में अन्तर, आहार और ऐतिहासिक तथ्य, अण्डा और दूध; वैज्ञानिक तथ्य आदि की विस्तृत चर्चा है। तृतीय अध्याय में आहार और मानव व्यवहार पर पूर्व में किये गये शोधकार्यों की समीक्षा है। चतुर्थ अध्याय में अध्ययन की विधि और प्रक्रिया की चर्चा है। पंचम अध्याय में परिणामों का विश्लेषण एवं विवेचना है। पुस्तक के अन्त मे परिशिष्ट के अन्तर्गत सन्दर्भग्रन्थ-सूची एवं बाल संवेग मापनी प्रश्नोत्तरी भी दी गयी है जिससे इनका महत्त्व और भी बढ़ जाता है।

इस पुस्तक का अधिकाधिक प्रचार-प्रसार हो इस उद्देश्य से इसका मूल्य भी अत्यल्प रखा गया है। ऐसे सुन्दर और सर्वोपयोगी पुस्तक के प्रणयन और प्रकाशन के लिये लेखिका व प्रकाशक-संस्था दोनों ही बधाई के पात्र हैं। पुस्तक का मुद्रण निर्दोष तथा साज-सज्जा उत्तम है। यह पुस्तक न केवल शोधार्थियों बल्कि जनसामान्य के लिये भी उतनी ही उपयोगी है। हम आशा करते हैं कि लेखिका द्वारा भविष्य में भी इसी प्रकार के उपयोगी ग्रन्थों का प्रणयन किया जाता रहेगा।

●

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

संस्कृत काव्य के विकास में बीसवीं शताब्दी के जैन मनीषियों का योगदान, लेखक— डॉ० नरेन्द्र सिंह राजपूत, प्रकाशक— आचार्य ज्ञानसागर वागर्थ विमर्श केन्द्र, ब्यावर एवं श्री दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र, मंदिर संघी जी, सांगानेर, जयपुर, प्रथम संस्करण १९९६ ई०, पृष्ठ १६+३०४; आकार— डिमाई, मूल्य ५० रुपये मात्र।

प्रस्तुत पुस्तक डॉ० श्री नरेन्द्र सिंह राजपूत द्वारा सुप्रसिद्ध विद्वान् डॉ० भागचन्द्र जैन 'भागेन्दु' के निर्देशन में लिखे गये शोधप्रबन्ध का मुद्रित रूप है जिस पर सागर विश्वविद्यालय द्वारा उन्हें डाक्टरेट की उपाधि प्रदान की गयी। शोधप्रबन्ध ६ अध्यायों में विभक्त है। प्रथम अध्याय में संस्कृत साहित्य का अन्तःदर्शन प्रस्तुत किया गया हैं जिसके अन्तर्गत संस्कृत साहित्य के आर्विभाव तथा विकास, संस्कृत का महत्त्व, संस्कृत साहित्य का उद्भव एवं विकास, संस्कृत पत्र-पत्रिकाओं आदि का विस्तृत परिचय दिया गया है। द्वितीय अध्याय में बीसवीं शताब्दी में जैन काव्य साहित्य का अन्तर्विभाजन है। इसके अन्तर्गत इस शताब्दी के संस्कृत साहित्य को तीन खंडों— मौलिक रचनायें, टीका ग्रन्थ एवं अन्य ग्रन्थ-मे विभाजित किया गया है। तृतीय अध्याय में बीसवीं शताब्दी के साधु-साध्वियों द्वारा प्रणीत प्रमुख जैन काव्यों का अनुशीलन प्रस्तुत किया गया है। चतुर्थ अध्याय में इस शताब्दी के मनीषियों द्वारा प्रणीत प्रमुख जैन काव्यों का अनुशीलन है। पंचम अध्याय में बीसवीं शताब्दी के जैन काव्यों का लगभग १०० पृष्ठों में साहित्यिक एवं शैलीगत अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। षष्ठ अध्याय में बीसवीं शताब्दी के संस्कृत जैन काव्यों का वैशिष्ट्य प्रदेय तथा तुलनात्मक एवं समीक्षात्मक अनुशीलन है। अन्त में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण एक परिशिष्ट भी है जिसके अन्तर्गत १०६ ग्रन्थों की विस्तृत सूची दी गयी है।

जैन वाङ्मय अखिल भारतीय वाङ्मय का एक समृद्ध और सुसंस्कृत भण्डार है। आधुनिकयुगीन संस्कृत साहित्य पर वर्तमान में नगण्य शोधकार्य हुआ है। जैन काव्य साहित्य के अध्ययन-अनुशीलन की स्थिति तो और भी चिन्ताजनक रही है। विद्वान् लेखक ने अत्यन्त श्रमपूर्वक इस शताब्दी के अनेक ऐसे रचनाकारों और उनकी रचनाओं को समाज के सम्मुख रखा है, जिसके बारे में लोगों को पहले कोई जानकारी न थी। आज शोधकार्य तो बहुत हो रहे हैं, परन्तु प्रामाणिक शोधकार्य तो इने-गिने ही होते हैं और यह शोधप्रबन्ध इसी कोटि में आता है। ऐसे प्रामाणिक शोधप्रबन्ध के लेखन एवं प्रकाशन के लिये लेखक और प्रकाशक संस्था दोनों ही बधाई के पात्र हैं। पुस्तक की साज-सज्जा आकर्षक तथा मुद्रण भी प्रायः निर्दोष है। ऐसा महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ प्रत्येक पुस्तकालयों के लिये संग्रहणीय और संस्कृत साहित्य के प्रत्येक शोधार्थियों के लिये पठनीय है। हमें विश्वास है कि विद्वान् लेखक भविष्य में भी इसी प्रकार जैन साहित्य पर प्रामाणिक ग्रन्थों का प्रणयन करते रहेंगे।

●

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पांव-पांव चला सूरज (श्रमणसघीय महामन्त्री श्री सौभाग्य मुनि 'कुमुद' का जीवनवृत्त); लेखक— मुनि डॉ० राजेन्द्र 'रत्नेश'; प्रकाशक— श्री अम्बागुरु शोध-संस्थान, कुम्हार बाडा, उदयपुर—राजस्थान; प्रथम संस्करण १९९४ ई०; पृष्ठ २६+३४४; पक्की जिल्द, आकार— रायल आठपेजी; मूल्य— एक सौ रुपया मात्र।

श्रमणसंघीय महामन्त्री श्री सौभाग्य मुनि जी 'कुमुद' स्थानकवासी समाज के देदीप्यमान नक्षत्र हैं। वे न केवल श्रमण संघ के मेधावी सन्त हैं बल्कि प्रभावी वक्ता, मधुर गायक, कवि एवं सिद्धहस्त लेखक भी हैं। मुनिश्री का जन्म ऐसी धरती पर हुआ है जहाँ शक्ति और भक्ति का अद्भुद् समन्वय रहा है। मेवाड़ की इस धरती ने जहाँ महाराणा प्रताप जैसे शूरवीरों और देशभक्तों को जन्म दिया है वहीं मीराबाई आदि जैसी महान् भक्त भी इसी पवित्र भूमि की देन हैं।

प्रस्तुत पुस्तक की प्रणेता मुनि (डॉ०) राजेन्द्र 'रत्नेश' श्री सौभाग्य मुनि जी 'कुमुद' के अन्तेवासी हैं। उन्होंने अत्यन्त प्रभावशाली रूप में अपने गुरुदेव के जीवन चरित्र का चित्रण प्रस्तुत किया है। इस पुस्तक की यह विशेषता है कि पाठक एक बार पढ़ना प्रारम्भ करे तो पूरा पढ़े बिना इसे रखने की इच्छा नहीं होती। पुस्तक में मुनिश्री की परम्परा के विभिन्न मुनिजनों के चित्र भी दिये गये हैं। पुस्तक की साज-सज्जा अत्यन्त आकर्षक तथा मुद्रण निर्दोष है। सर्वश्रेष्ठ कागज एवं द्विरंगे पृष्ठों पर मुद्रित यह पुस्तक प्रत्येक पुस्तकालयों के लिये संग्रहणीय है।

•

चिन्तन की गहराइयाँ (डॉ० हुकमचन्द भारिल्ल के साहित्य में से चुने गये महत्त्वपूर्ण अंश); संकलन एवं सम्पादन— ब्र० श्री यशपाल जैन; प्रकाशक— पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, ए-४, बापूनगर, जयपुर ३०२०२५; आकार— डिमाई; पक्की जिल्द; पृष्ठ ८+३१८; मूल्य १५ रुपये मात्र।

डॉ०हुकमचन्द भारिल्ल जैन समाज के सर्वाधिक लोकप्रिय लेखक हैं। उनकी सशक्त लेखन से अनेक वाक्य सूक्तियों जैसे बन गये हैं। ऐसे ही कतिपय महत्त्वपूर्ण अंशों को उनके द्वारा लिखित १७ पुस्तकों में से चयन करके पुस्तकाकार रूप में प्रस्तुत किया गया है। डॉ०भारिल्ल की सभी रचनायें समाज में आदृत हुई हैं। विभिन्न मुनिजनों एवं विद्वानों ने उनकी कृतियों पर अपने-अपने विचार व्यक्त किये हैं। प्रस्तुत पुस्तक से डॉ०साहब द्वारा प्रणीत सम्पूर्ण साहित्य पढ़ने की पाठकों को प्रेरणा मिलेगी, इसमें कोई सन्देह नहीं है। पुस्तक की साज-सज्जा चित्ताकर्षक एवं मुद्रण त्रुटिरहित है। श्रेष्ठ कागज पर निर्मित इस ग्रन्थ का मूल्य मात्र १५ रुपये रखा गया है ताकि इसका अधिकाधिक प्रचार-प्रसार हो। ऐसे संग्रहणीय पुस्तक के संकलन, सम्पादन और प्रकाशन के लिये सम्पादक और प्रकाशक बधाई के पात्र हैं।

•

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जैनधर्म के आद्य प्रवर्तक भगवान् ऋषभदेव; लेखिका— डॉ० संगीता मिश्रा; प्रकाशक— कनकलता शुक्ला, भारती निकेतन, टेढ़ी बाजार, वशिष्ठ कुण्ड, अयोध्या, जिला— फैजाबाद, उत्तर प्रदेश; प्रथम संस्करण, १९९६ ई०, आकार— डिमाई, पृष्ठ १६+१५८; मूल्य ५० रुपये मात्र।

श्रमण परम्परा के प्रवर्तक आदि तीर्थङ्कर भगवान् ऋषभदेव का जीवन-चरित्र, उनका काल, उनके शरीर की लम्बाई-चौड़ाई, उनकी आयु आदि सभी पौराणिकता के नीचे दबी पड़ी हुई हैं। ऐसी परिस्थिति में अनेक विचारक उन्हें ऐतिहासिक न मानकर पौराणिक ही मानते आये हैं। प्रस्तुत पुस्तक में विदुषी लेखिका ने जैन साहित्य से उनके जीवन तथा कार्यों के कुछ महत्त्वपूर्ण बिन्दुओं को चुनकर निकाला है जो विश्वसनीयता की सीमा में आता है। प्रस्तुत ग्रन्थ लेखिका द्वारा प्रणीत शोधप्रबन्ध का मुद्रित रूप है जिस पर उन्हें पी-एच०डी० की उपाधि प्राप्त हुई है। प्रस्तुत पुस्तक में उन्होंने ऋषभदेव से सम्बन्धित जैन और जैनेतर परम्पराओं का उनके मूल ग्रन्थों के आधार पर अध्ययन किया है किन्तु कहीं भी उन्होंने किसी भी परम्परा के प्रति न तो पूर्वाग्रह अपनाया है और न ही उससे पूर्णतया अस्वीकार ही किया है अपितु दोनों में संतुलन बनाये रखते हुए इस ग्रन्थ का प्रणयन किया है। यह पुस्तक शोधार्थियों के लिये निश्चय ही लाभदायक होगी। पुस्तक की साज-सज्जा सामान्य तथा मुद्रण त्रुटिरहित है।

●

लौट आ : निःस्वार्थ की निश्रा में; उपाध्याय मुनि गुप्तिसागर; सम्पादक— ब्रह्मचारी सुमन शास्त्री; प्रका०— कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय, कुरुक्षेत्र; प्रथम संस्करण १९९९ ई०; आकार-डिमाई; प्राप्ति स्थान-उपाध्याय गुप्तिसागर साहित्य संस्थान, २१५, कालानीनगर, इन्दौर, मध्यप्रदेश; पृष्ठ २४+८०; मूल्य-२५ रुपये।

प्रस्तुत पुस्तक दिगम्बर परम्परा के सुप्रसिद्ध विद्वान् उपाध्याय गुप्तिसागर द्वारा दो वर्ष पूर्व हरिद्वार से बदरीनाथ की यात्रा के बीच विश्राम के क्षणों में उनके मन में उठे विचारों की काव्यात्मक अनुभूति है। इस संग्रह की प्रत्येक कविता नई दिशा और नया आलोक प्रदान करने में समर्थ है। श्रद्धेय उपाध्यायश्री शास्वत मानवीय मूल्यों के प्रस्तोता कवि एवं चिन्तक हैं। उनकी कविताओं में बदलते हुए युगीन परिवेश एवं मान्यताओं के दर्शन होते हैं। उनकी कविताओं में मानव और प्रकृति प्रेम की स्पष्ट झलक मिलती है। जीवन की नश्वरता के बारे में उनका कहना है—

"दीपक का जलना, और बुझना एक स्वाभाविक घटना है, फिर जीवन के गमन और आगमन पर हर्ष-विषाद सुख-दुःख कैसा।"

जीवन के सुख के बारे में उनका कहना है—

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

"मैं बहुत बार; सरलता और सादगी में ठगाया गया हूँ, लेकिन यही सुख है कभी किसी को ठगा नहीं जीवन में।"

वस्तुत: इस पुस्तक में दी गयी सभी कवितायें हमें एक नया संदेश देती हैं। पुस्तक की साज-सज्जा अत्यन्त आकर्षक व मुद्रण निर्दोष है। श्रेष्ठ कागज पर मुद्रित इस ग्रन्थ के व्यापक प्रचार-प्रसार हेतु इसका मूल्य लागत मात्र ही रखा गया है जो निश्चय ही प्रकाशक एवं वितरक की उदारता का परिचायक है। पुस्तक सभी के लिये पठनीय और मननीय है।

•

The Saṃdeśarāsaka -- Abdul Rahaman : Translated by C.M. Mayrhofer : Motilal Banarasidass Publishers Private Limted. Delhi 1998: P- 16+259; Prise Rs. 400.

अपभ्रंश भाषा के कवियों में महाकवि अब्दुल रहमान का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। उनका समय विक्रम संवत् की तेरहवीं शती माना जाता है। वे प्रथम मुस्लिम कवि हैं जिन्होंने एक भारतीय भाषा- अपभ्रंश- को अपनी रचना का माध्यम बनाया। **सन्देशरासक** एक दूतकाव्य है और इसका आधारस्रोत महाकवि कालिदास का प्रसिद्ध दूतकाव्य **'मेघदूत'** है।

सन्देशरासक* का सम्पूर्ण कलेवर तीन भागों में विभाजित है। प्रथम भाग में काव्य की प्रस्तावना है। कथा का प्रारम्भ द्वितीय भाग से होता है। तृतीय भाग में नायिका (नाम- अज्ञात) अपने स्वामी का पत्र लेकर 'मूलस्थान' (मुलतान) से खम्भात जाते हुए पथिक को आग्रहपूर्वक रोककर उससे अपने खम्भात प्रवासी अनाम पति के पास अपना विरह सन्देश पहुंचाने का अनुरोध करती है। इसी क्रम में वह छ: ऋतुओं में होने वाली अपनी दारुण कामदशा का वर्णन करती है। ऋतुचक्र का वर्णन पूर्ण हो जाने के बाद विरहिणी नायिका पथिक को आशीर्वचन के साथ विदा करती है। पथिक के जाते ही उस विरहिणी युवती को दक्षिण दिशा से आता हुआ उसका पति दिखाई देता है, जिससे वह हर्षित हो जाती है और इसी के साथ कृति भी समाप्त हो जाती है।

सन्देशरासक प्रथम बार मुनि जिनविजय के सम्पादन में प्रख्यात सिंघी जैन ग्रन्थमाला में प्रकाशित हुई थी। प्रस्तुत पुस्तक में एक ओर मूलपाठ तथा दूसरी ओर

---

*. **सन्देशरासक** का उक्त परिचय डॉ० श्रीरंजनसूरिदेव द्वारा लिखित व **श्रमण** वर्ष ४६, अंक १०-१२, पृष्ठ २४-२७ पर प्रकाशित लेख— "संदेशरासक में पर्यावरण के तत्त्व" के आधार पर दिया गया है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अत्यन्त प्रामाणिक अंग्रेजी अनुवाद प्रकाशित है। इसके पश्चात् Index of Words के अन्तर्गत अकारादिक्रम से शब्द-सूची और उनका अंग्रेजी भाषा में प्राय: एक से अधिक अर्थ दिया गया है। इसके पश्चात् व्याकरण की दृष्टि से अति उपयोगी Reverse Index of Words और Reverse - Sorted Lemmas भी दिया गया है। आंग्ल भाषा में होने के कारण इस ग्रन्थ का सम्पूर्ण विश्व में आदर होगा। ऐसे महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ के अनुवाद और अत्यन्त उपयोगी शब्दसूचियों के संकलन तथा उसे सर्वोत्तम रूप में प्रकाशित करने के लिये अनुवादक और प्रकाशक दोनों ही अभिनन्दनीय हैं। यह पुस्तक विद्वद्जगत् में अत्यन्त लोकप्रिय होगी, इसमें सन्देह नहीं है। ऐसा महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ प्रत्येक पुस्तकालयों के लिये अनिवार्य रूप से संग्रहणीय है।

●

भक्ति प्रसून (कविता संग्रह) : रचनाकार श्री अरुण जैन; प्रकाशक- दिवाकीर्ति शिक्षा एवं कल्याण समिति, ललितपुर २८४४०३ (उत्तर प्रदेश) प्रथम संस्करण- १९९८ई०; आकार- डिमाई; पृष्ठ ११२; मूल्य-२१/- रुपये मात्र।

प्रस्तुत कृति के रचनाकार श्री अरुण जैन पेशे से एक अभियन्ता हैं, परन्तु हिन्दी साहित्य के प्रति उनका अगाध प्रेम है। एक उच्च संस्कारी जैनकुल में उत्पन्न होने के कारण सन्तशिरोमणि आचार्य विद्यासागर जी महाराज के प्रति उनके मन में अपार श्रद्धा है। प्रस्तुत कृति में उनके द्वारा रचित ७२ कविताओं का संकलन है और ये सभी आचार्यश्री के गुणों की स्तुतिरूप हैं। वस्तुत: यह रचना एक विनीत शिष्य द्वारा अपने गुरु के चरणों में प्रस्तुत विनयांजलि है जिसे शब्दों में व्यक्त किया गया है। अत्यन्त सरल भाषा में रचित ये कवितायें अत्यन्त हृदयस्पर्शी और सभी के लिये पठनीय हैं। ऐसी भक्तिप्रद रचना के प्रणयन और प्रकाशन के लिये रचनाकार व प्रकाशक दोनों बधाई के पात्र हैं। प्रस्तुत पुस्तक की साज-सज्जा अत्यन्त आकर्षक व मुद्रण निर्दोष है।

●

सिद्धान्तसार- कर्ता-आचार्य जिनचन्द्र; टीकाकार-भट्टारक ज्ञानभूषण; सम्पादक-अनुवादक- ब्रह्मचारी विनोदकुमार जैन एवं ब्रह्मचारी अनिलकुमार जैन; प्रका०- श्री दिगम्बर साहित्य प्रकाशन समिति, बरेला, जबलपुर (मध्य प्रदेश); प्रथम संस्करण-अक्टूबर १९९८ई०; आकार- डिमाई; पृष्ठ- ७०; मूल्य- १०/- रुपये।

दिगम्बर परम्परा में आचार्य जिनचन्द्रकृत सिद्धान्तसार और उस पर ब्र० ज्ञानभूषण द्वारा रचित संस्कृत टीका का महत्त्वपूर्ण स्थान है। अब तक इनके एक से अधिक प्रकाशन भी हो चुके हैं, परन्तु इसका हिन्दी अनुवाद उपलब्ध न था। ब्रह्मचारी द्वय ने मूल ग्रन्थ और उसके संस्कृत टीका का हिन्दी अनुवाद प्रस्तुत कर पाठकों का

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

महान् उपकार किया है। पुस्तक के प्रारम्भ में ग्रन्थकार और टीकाकार का भी परिचय दिया गया है, जो ऐतिहासिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। ऐसे लोकोपयोगी ग्रन्थ का हिन्दी अनुवाद और उसके प्रकाशन तथा नाममात्र के मूल्य पर वितरण के लिये अनुवादक एवं प्रकाशन दोनों ही साधुवाद के पात्र हैं। पुस्तक की साज-सज्जा सामान्य तथा मुद्रण त्रुटिरहित है।

●

प्रकृति परिचय - संकलन- सम्पादन- ब्र० विनोद जैन और ब्र० अनिल जैन; प्रका०- श्री दिगम्बर साहित्य प्रकाशन, बरेला (जबलपुर); प्राप्ति स्थान- श्री दिगम्बर साहित्य प्रकाशन, द्वारा जैन स्टोर्स, जैन मन्दिर के सामने, बरेला, जबलपुर (म०प्र०); प्रथम संस्करण १९९८ई०; आकार- डिमाई; पृ० १६+११२; मूल्य- २२/- रुपये मात्र।

आत्मा और कर्म प्रकृतियों का अनादिकाल से सम्बन्ध चला आ रहा है। कर्म प्रकृतियों की कुल संख्या ८ और इसके उत्तर प्रकृतियों की संख्या १४८ है। अलग-अलग कर्म प्रकृतियों के आत्मा के साथ बन्धन होने पर उनका भिन्न-भिन्न रूप में परिणमन होता है। जैनधर्म के विभिन्न ग्रन्थों में इस सम्बन्ध में विशद् विवरण प्राप्त होता है। कर्म प्रकृति की व्याख्या दिगम्बर परम्परा के प्रमुख ग्रन्थों- **धवला, राजवार्तिक, सर्वार्थसिद्धि, जीवकाण्ड, कर्मकाण्ड** आदि में मिलती है। प्रस्तुत पुस्तक में उक्त ग्रन्थों से कर्म प्रकृति की परिभाषायें इकत्र कर संकलित की गयी हैं साथ ही उनका हिन्दी अनुवाद भी दिया गया है। युवा विद्वानों ने इस संकलन और अनुवाद को तैयार करने में पर्याप्त श्रम किया है जिसके लिये वे बधाई के पात्र हैं। पुस्तक का मुद्रण त्रुटिरहित व साज-सज्जा सामान्य है। यह पुस्तक प्रत्येक जैनधर्मानुयायी के लिये पठनीय और मननीय है।

●

Life of Mahavira By Manik Chand Jian. B.A., Published by. The Academic Press, Gurgaon, 122001, Haryana. Reprint 1985. Size- Dimy; pp. 26+89. Prise Rs. 45.

आंग्ल भाषा में खंडवा निवासी श्री मणिकचन्द जी जैन द्वारा लिखित इस पुस्तक का सर्वप्रथम प्रकाशन इण्डियन प्रेस, इलाहाबाद द्वारा सन् १९०८ में हुआ था। आंग्ल भाषा में अत्यन्त प्रामाणिक रूप में लिखित होने से यह पुस्तक अपने समय में अत्यन्त लोकप्रिय सिद्ध हुई और आज भी इसकी मांग बनी हुई थी इसे देखते हुए आफसेट द्वारा पुस्तक का पुनर्मुद्रण किया गया है। ऐसे प्रामाणिक और उपयोगी ग्रन्थ के पुनर्मुद्रण हेतु प्रकाशक बधाई के पात्र हैं।

●

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सत्यान्वेषी एकादश - पं० फूलचन्द्र शास्त्री; प्रकाशक- सिद्धान्ताचार्य पण्डित फूलचन्द्र शास्त्री फाउण्डेशन, रुड़की (उ०प्र०), प्रथम संस्करण- वी०नि०सं० २५२४; आकार- डिमाई, पक्की बाइण्डिग; पृष्ठ- ८+७६; मूल्य- ५०/- रुपये।

दिगम्बर परम्परा के सर्वमान्य विद्वानों में स्व० पं० फूलचन्द्र जी शास्त्री का नाम अत्यन्त श्रद्धा के साथ लिया जाता है। उनके द्वारा की गयी जैनधर्म-दर्शन एवं साहित्य की सेवा से सम्पूर्ण समाज भली-भांति सुपरिचित है। प्रस्तुत पुस्तक **सत्यान्वेषी एकादश** उनके द्वारा अब से ५० वर्ष पूर्व अर्थात् स्वतन्त्रता प्राप्ति के तत्काल बाद लिखे गये लेखों का संकलन है, जिसे स्वतन्त्रता की स्वर्णजयन्ती के अवसर पर प्रकाशित किया जा रहा है। ये लेख विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में पूर्व में प्रकाशित हो चुके हैं। पण्डित जी ने जैनधर्म-दर्शन के मूल सिद्धान्तों के परिप्रेक्ष्य में अपने जो विचार व अवधारणायें विभिन्न समस्याओं के समाधान के सन्दर्भ में प्रस्तुत किये हैं वे आज भी उतने प्रासंगिक हैं। जाति-पांति, हरिजन मन्दिर प्रवेश आदि की समस्या के समाधान के सम्बन्ध में उनके द्वारा प्रस्तुत किया गया विचार आज भी उतना ही जीवन्त है जितना उस समय था। अपने क्रान्तिकारी विचारों के लिये उन्हें समाज के रूढ़िवादीजनों का कोपभाजन भी बनना पड़ा, परन्तु वे कभी भी अपने न्यायपूर्ण विचारों से विचलित नहीं हुए। अध्यात्म समाजवाद, जाति-पांति और हरिजन मन्दिर प्रवेश आदि ज्वलन्त प्रश्नों पर पण्डित जी द्वारा लिखे गये लेखों का पुनर्प्रकाशन कर संस्था ने अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। इस संकलन के उपलब्ध हो जाने से युवावर्ग भी पण्डित जी के क्रान्तिकारी विचारों से अवगत होते हुए उनसे प्रेरणा प्राप्त कर सकेंगे इसमें सन्देह नहीं। ऐसे सुन्दर व लोकहितकारी प्रकाशन के लिये प्रकाशकगण बधाई के पात्र हैं। पुस्तक की साज-सज्जा आकर्षक तथा मुद्रण कलापूर्ण है। यह पुस्तक सभी के लिये समान रूप से पठनीय व मननीय है।

•

श्रमण संस्कृति- तरुणाचार्य चादर विशेषांक; वर्ष २-३; अंक ११-१२-१; सम्पा०- श्री उम्मेदमल गांधी; प्रका०- श्री अखिल भारतवर्षीय साधुमार्गी जैन श्रावक संघ; आकार- रायल अठपेजी; पृ० ५५९; मूल्य- १५०/- रुपये मात्र।

श्रमण संस्कृति नामक पत्रिका का प्रस्तुत अंक हुक्मगच्छीय तरुणाचार्य विजयमुनि जी म०सा० के चादर समर्पण समारोह (३१ जनवरी १९९९) के अवसर पर प्रकाशित किया गया है। इसमें तरुणाचार्य श्री के व्यक्तित्व, उनके यशस्वी कृतित्व, उनकी लोकप्रियता, उनकी वैचारिकता आदि पर विद्वानों के चुने हुए लेखों को स्थान दिया गया है। इसके अतिरिक्त आचार्य पद की गुणशीलता के बारे में आचार्य हस्तिमल जी, उपाध्याय अमर मुनि जी, आचार्य महाप्रज्ञ जी, प्रेममुनि जी, आचार्य रजनीश,

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आचार्य सुदर्शनलाल जी महाराज एवं श्री जिनेश मुनि जी के लेखों का संकलन है। आगे के अध्यायों में साधुमार्गीय हुक्मगच्छीय परम्परा के आचार्यों का विस्तृत जीवन परिचय, हुक्मगच्छीय शान्त क्रान्ति संघ एवं अ०भा०सा० जैन श्रावक संघ आदि का विवरण है। आगे के शेष अध्यायों में तरुणाचार्य जी के गुणों का संकीर्तन एवं समाचार खण्ड दिया गया है। इस विशेषांक में समारोह से सम्बद्ध अनेक चित्र भी दिये गये हैं, जो इसे और भी आकर्षक व सजीव बना देते हैं। यह विशेषांक सभी के लिये पठनीय और संग्रहणीय है। ऐसे श्रमसाध्य और उपयोगी ग्रन्थ के प्रकाशन के लिये सम्पादक और प्रकाशन दोनों ही बधाई के पात्र हैं। पुस्तक की साज-सज्जा नयनाभिराम एवं मुद्रण अत्यन्त कलापूर्ण तथा निर्दोष है।

●

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जैन-जगत्

सन्मतितीर्थ का वार्षिक पारितोषिक वितरण समारोह सम्पन्न

पुणे २२ मार्च : पुणे विद्यापीठ द्वारा मान्यता प्राप्त **प्राकृत और जैनोलाजी संशोधन संस्थान,** पुणे का वार्षिक पुरस्कार वितरण समारोह जैनधर्म के महान् प्रचारक, मौलिक चिन्तक तथा अध्यात्म के गम्भीर अध्येता आचार्य श्रीजिनचन्द्रसूरि जी म०सा० और श्रीकीर्तिचन्द्र जी म०सा० के करकमलों द्वारा विगत २१ मार्च को स्थानीय बालगन्धर्व रंगमन्दिर, पुणे में सम्पन्न हुआ। कार्यक्रम की अध्यक्षता जैनधर्म-दर्शन के विश्वविख्यात् विद्वान्, जिनशासन-गौरव प्रो० सागरमल जैन (मानद् निदेशक- पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी) ने की। इस अवसर पर संस्था के विद्यार्थियों ने भगवान् महावीर के जीवन पर आधारित एक संगीत नृत्य नाटिका **'मृत्युञ्जय'** की चित्ताकर्षक प्रस्तुति भी की।

अहिंसा इण्टरनेशनल के वार्षिक पुरस्कार १९९८ समर्पित

नई दिल्ली २६ मार्च : राष्ट्रसन्त आचार्य श्री विद्यानन्द जी के सान्निध्य में रविवार २१ मार्च, १९९९ को गुरु नानक सभागार, नई दिल्ली में आयोजित भव्य समारोह में चार महानुभावों को अहिंसा इण्टरनेशनल के निम्न पुरस्कार भेंट किये गये।

१. अहिंसा इण्टरनेशनल डिप्टीमल आदीश्वर लाल जैन साहित्य पुरस्कार ३१,०००/- **डॉ० देवेन्द्र कुमार शास्त्री,** नीमच।

२. अहिंसा इण्टरनेशनल भगवानदास शोभालाल जैन शाकाहार पुरस्कार ११,०००/- **श्री सुरेशचन्द्र जैन,** जबलपुर।

३. अहिंसा इण्टरनेशनल रघुवीर सिंह जैन जीव रक्षा पुरस्कार ११,०००/- **श्री मुहम्मद शफीक खान,** सागर।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

४. अहिंसा इण्टरनेशनल गोल्डेन इण्डिया फाउण्डेशन पत्रकारिता पुरस्कार ३१,०००/- **डॉ० नीलम जैन**, सहारनपुर।

श्री सम्मेदशिखर तीर्थ पर विविध आयोजन

सम्मेदशिखर २७ अप्रैल : आचार्यश्री विमलसागर जी के पट्टशिष्य सन्तशिरोमणि आचार्यश्री भरतसागर जी के पावन सान्निध्य में यहां तलहटी में नवनिर्मित श्रीदेवाधिदेव तीस चौबीसी का पंचकल्याणक एवं विमल समाधि प्रतिष्ठापन तथा गजरथ महोत्सव का ५दिवसीय भव्य कार्यक्रम दिनांक २२ अप्रैल से २६ अप्रैल तक चला जिसमें बहुत बड़ी संख्या में देश के कोने-कोने से आये श्रद्धालुओं ने बड़े ही उत्साह के साथ भाग लिया।

कोल्हुआ पहाड़ (पारसगिरि तीर्थ)

१०वें तीर्थङ्कर भगवान् शीतलनाथ के चार कल्याणक-गर्भ, जन्म, दीक्षा और केवलज्ञान- दिगम्बर परम्परानुसार कोल्हुआपहाड़ (पारसगिरि) पर हुए। यह स्थान बिहार राज्य के गया जिले में जिला मुख्यालय से ७० किलोमीटर दूर अवस्थित है। आचार्य भरतसागर जी के ४९वें जयन्ती के उपलक्ष्य में स्थानीय जैन समाज द्वारा शहर से तीर्थक्षेत्र पर जाने के लिये यात्रियों की सुविधा को ध्यान में रखते हुए एक निजी वाहन की व्यवस्था की गयी है, जो सराहनीय है। पर्वत के ऊपर एक गुफा में विराजमान भगवान् पार्श्वनाथ की प्रतिमा, चट्टानों पर उत्कीर्ण ५ बालयतियों की खड्गासन प्रतिमायें, १५ तीर्थङ्करों की पद्मासन मूर्तियां, शिखरबद्ध जिनालय, भगवान् शीतलनाथ के चरण चिह्न एवं एक सुरम्य सरोवर दर्शनीय है। पर्वत की तलहटी में सर्वसुविधा सम्पन्न एक धर्मशाला भी है जहां यात्रीगण कुछ दिन ठहर सकते हैं। आचार्यश्री भरतसागर जी महाराज़ की प्रेरणा से इस तीर्थ का अब समुचित विकास हो रहा है और शीघ्र ही यह स्थान प्रसिद्ध तीर्थक्षेत्रों की कोटि में सम्मिलित हो जायेगा साथ ही सम्मेदशिखर के निकट स्थित होने के कारण वहां आने वाले तीर्थयात्री यहां की भी यात्रा एवं दर्शन-पूजन का लाभ ले सकेंगे।

श्री सौभाग्यमुनि जी का चातुर्मास चेन्नई में

स्थानीय श्री श्वेताम्बर श्रमण संघ की प्रार्थना और आचार्य सम्राट श्री देवेन्द्र मुनि जी महाराज की आज्ञा से श्रमणसंघीय महामन्त्री श्री सौभाग्य मुनि जी का वर्ष १९९९ का चातुर्मास साहूकार पेठ, चेन्नई में निश्चित हुआ है। मुनिश्री के चेन्नई में चातुर्मास की घोषणा होने से स्थानीय समाज में उल्लास की लहर फैल गयी।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भगवान् महावीर पुरस्कार समर्पित

चेन्नई, अप्रैल ३ : भगवान् महावीर फाउण्डेशन, चेन्नई द्वारा आयोजित एक भव्य समारोह में तमिलनाडु के मुख्यमन्त्री श्री एम० करुणानिधि द्वारा वर्ष १९९९ के लिए भगवान् महावीर पुरस्कार प्रदान किये गये। भगवान् महावीर फाउण्डेशन द्वारा पिछले पांच वर्षों से जीवन के हर क्षेत्र में मानव सेवा से सम्बद्ध उत्कृष्ट कार्यों—विशेषत: अहिंसा, सत्य, शाकाहार, शिक्षा, चिकित्सा, समुदाय और समाज सेवा के लिए पुरस्कार प्रदान किये जाते हैं।

समारोह में उपस्थित जनसमूह का स्वागत करते हुए फाउण्डेशन के न्यासी श्री एन० सुगालचन्द जैन ने बताया कि फाउण्डेशन को लगभग १५०० प्रार्थना-पत्र प्राप्त हुए हैं और मेरी दृष्टि में उन सभी को पुरस्कार के लिए चयनित किया जा सकता है, परन्तु न्यास की भी सीमाएं हैं। आगे आपने बताया कि देश में समाज सेवा हेतु उत्कृष्ट कार्य करने वालों की कमी नहीं है। आपने इस अवसर पर चयनित तीनों पुरस्कार प्राप्त करने वालों को विशेष बधाई भी दी।

वर्ष १९९९ के निम्न तीन पुरस्कार जिनमें प्रत्येक में ५ लाख रूपये नकद, एक स्मृति चिह्न एवं एक प्रशस्ति-पत्र प्रदान किया गया। ये पुरस्कार श्रीमती मेनका गाँधी (केन्द्रीय मंत्री व अध्यक्ष, पीपुल्स फॉर एनीमल) को अहिंसा व शाकाहार के क्षेत्र में उत्कृष्ट कार्यों के लिए; डॉ० जी० वेंकटस्वामी (चेयरमैन, अरविन्द आई हास्पिटल एण्ड पोस्ट ग्रेजुएट इन्स्टीट्यूट ऑफ आप्थोमॉलोजी, मदुरै) को शिक्षा एवं चिकित्सा के क्षेत्र में उत्कृष्टता के लिए और भगवान् महावीर विकलांग समिति, जयपुर को सामाजिक एवं मानवसेवा हेतु प्रदान किये गये।

इस अवसर पर मुख्यमंत्री श्री करुणानिधि ने अपने विचार व्यक्त करते हुए बताया कि अर्वाचीन सिद्धान्तसम्पन्न जैन दर्शन से तमिल साहित्य भी प्रभावित है और तमिल विद्वान् श्री तिरुवल्लुवर ने भी तमिल साहित्य में जैन दर्शन को स्पष्ट रूप से दर्शाया है। शान्ति दूत भगवान् महावीर की प्रतिभा को प्रतिष्ठित करने से एवं उनके सिद्धान्तों के अनुसरण से वर्तमान की भीषण हिंसा व अशान्ति की स्थिति से बचा जा सकता है। भगवान् महावीर के दूरदर्शी सिद्धान्तों में समाज में फैली असमानता से उत्पन्न भीषण स्थिति की भविष्यवाणी बहुत पूर्व ही कर दी गयी थी। अपने विचारों को प्रस्तुत करते हुए उपस्थित जनसमुदाय के सामने डॉ० जी० वेंकटस्वामी की उत्कृष्ट सेवाओं की भूरि-भूरि प्रशंसा करते हुए उन्होंने बताया कि आपने ग्रामीण क्षेत्रों में नेत्र चिकित्सा शिविरों के प्रबन्धन में सुगठित सेना की तरह कार्य किया है तथा श्रीमती मेनकाजी ने तो मूक जानवरों व पर्यावरण संरक्षण हेतु अपना जीवन ही अर्पित कर दिया है। भगवान् महावीर विकलांग समिति के विषय में आपने बताया कि इस संस्थान की उत्कृष्ट

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सेवा से विकलांग व्यक्तियों को जीने की नई राह मिली है। न्यासी श्री एन० सुगालचन्द जैन की एक विशेष मांग— चेन्नई महानगर में भगवान् महावीर की प्रतिमा हेतु सार्वजनिक स्थान उपलब्ध कराने-के सम्बन्ध में मुख्यमंत्री ने बताया कि इस पर सहानुभूति से विचार किया जायेगा एवं इस सम्बन्ध में विशेष आश्वासन भी आपने दिया है।

फाउण्डेशन के अध्यक्ष भारतरत्न श्री सी० सुब्रमण्यम ने अपने विचार प्रस्तुत करते हुए बताया कि फाउण्डेशन द्वारा पांचवीं बार निष्ठापूर्वक ये पुरस्कार प्रस्तुत किये जा रहे हैं। जैन समाज समुदाय सेवा के क्षेत्र में हमेशा अग्रणी रहा है। उन्होंने आगे बताया कि समय-समय पर इस फाउण्डेशन ने अन्य क्षेत्रों में भी अपनी निःस्वार्थ सेवायें राष्ट्र को समर्पित की हैं, यही देश की सुदृढ़ शक्ति का परिचायक है।

इसी अवसर पर भगवान् महावीर फाउण्डेशन के न्यासी श्री प्रसन्नचन्द जैन के पुत्र श्री प्रमोद जैन ने भी २ लाख रूपये की राशि का एक चेक माननीय मुख्यमंत्री जी को मुख्यमंत्रीराहतकोष हेतु प्रदान किया।

परस्पर सौहार्द का अनुपम आदर्श

वर्तमान विषम वातावरण में दो धर्मों के लोगों द्वारा एक दूसरे की धार्मिक भावनाओं का आदर करते हुए अपने-अपने पर्वों को एक ही दिन परस्पर सौहार्द के

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

साथ मना पाना प्राय: असम्भव है। इस असम्भव को सम्भव बनाया है आज के मुस्लिम समुदाय ने। जैसाकि हम सभी जानते हैं इस बार महावीर जयन्ती और इद्-उल-जुहा (बकरीद) साथ-साथ एक ही दिन पड़े। महावीर जयन्ती के अवसर पर सम्पूर्ण जैन समाज ने एक स्वर से उस दिन हिंसा न करने के लिये मुस्लिम समाज से मार्मिक निवेदन किया फलस्वरूप देश के विभिन्न स्थानों पर उस दिन मुस्लिम भाइयों ने पशुवध रोक कर साम्प्रदायिक सौहार्द की एक नई मिशाल पेश की। यदि अन्यान्य धर्मों में भी परस्पर इसी प्रकार की समझदारी उत्पन्न हो जाये और वे एक दूसरे के धर्मस्थानों एवं परम्पराओं को अपने ही धर्मस्थानों एवं परम्पराओं की भांति पवित्र और महान् मानने लगें तो यह धरती सचमुच स्वर्ग तुल्य बन जाये।

फरीदाबाद में महावीर जयन्ती सम्पन्न

फरीदाबाद १० अप्रैल : जैन संघ, फरीदाबाद के तत्त्वावधान में आत्मानन्द जैन सभा के सौजन्य से स्थानीय श्री आत्मवल्लभ जैन उपाश्रय में वहाँ विराजित पू० महासती श्री कुशल कुंवर जी ठाणा-५ की पावन निश्रा में दि० २९ मार्चको अत्यन्त धूम-धाम से महावीर जयन्ती समारोह मनाया गया। इस समारोह में श्री वल्लभ स्मारक, दिल्ली स्थित भोगीलाल लहरचंद इंस्टिट्यूट ऑफ इण्डोलाजी के निदेशक प्रो० विमल प्रकाश जैन मुख्य अतिथि के रूप में पधारे। महावीर जयन्ती के अवसर पर समस्त जैन समुदाय के आग्रह पर फरीदाबाद के मुस्लिम समाज ने अपने महान् पर्व बकरीद को पूर्णत: अहिंसक रूप में मनाते हुए एक ऐतिहासिक मिशाल कायम की। इसी अवसर पर स्थानीय जनसेवी संस्था महावीर इण्टरनेशनल द्वारा २८ मार्च से २ अप्रैल तक जैन भवन, फरीदाबाद में श्री शिवधन जी अग्रवाल के सौजन्य एवं हरियाणा सरकार के सहयोग से ६ दिवसीय निःशुल्क नेत्र चिकित्सा शिविर का आयोजन किया गया जिसमें बड़ी संख्या में नेत्र रोगियों के नेत्रों का परीक्षण कर उन्हें निःशुल्क दवायें दी गयीं तथा ५० से अधिक रोगियों के नेत्रों की शल्यचिकित्सा सम्पन्न हुई। इसी प्रकार का एक शिविर इसी स्थान पर आगामी सितम्बर-अक्टूबर माह में देश के सुप्रसिद्ध उद्योगपति तथा पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी के मन्त्री श्री भूपेन्द्रनाथ जी जैन तथा उनके पारिवारिक ट्रस्ट की ओर से आयोजित किया जायेगा।

आर्य भद्रबाहु और उनका साहित्य : संगोष्ठी सम्पन्न

अहमदाबाद १२ अप्रैल : कालिकालसर्वज्ञ श्री हेमचन्द्राचार्य नवम जन्म शताब्दी स्मृति संस्कार शिक्षणनिधि, अहमदाबाद के सौजन्य और विश्वविख्यात् विद्वान् प्रो० मधुसूदन ढांकी के सम्मान में स्थानीय हठीसिंह की बाड़ी में **आर्य भद्रबाहु और उनका साहित्य** नामक विषय पर १०-११ अप्रैल को द्विदिवसीय संगोष्ठी आयोजित की गयी।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इस संगोष्ठी में प्रो० सत्यरंजन बैनर्जी, डॉ०के०आर० चन्द्रा, डॉ० जीतेन्द्र बी०शाह, प्रो० प्रेम सुमन जैन, डॉ० धर्मचन्द जैन, प्रो० विमल प्रकाश जैन, डॉ० जगतराम भट्टाचार्य, डॉ० दीनानाथ शर्मा, डॉ० सलोनी जोशी, डॉ० कमलेश कुमार जैन, डॉ०अरुणा आनन्द, समणी कुसुम प्रज्ञा, पं० रूपेन्द्र कुमार पगारिया आदि विद्वानों के अलावा पार्श्वनाथ विद्यापीठ के सम्मान्य निदेशक प्रो० सागरमल जैन, विद्यापीठ के वरिष्ठ प्रवक्ता डॉ० अशोक कुमार सिंह एवं शोधछात्र श्री अतुल कुमार प्रसाद सिंह ने भाग लिया। संगोष्ठी तीन सत्रों में चली। प्रथम सत्र की अध्यक्षता प्रो० मधुसूदन ढांकी, द्वितीय सत्र की प्रो० सत्यरंजन बैनर्जी और तृतीय सत्र की प्रो० सागरमल जैन ने की।

इस अवसर पर संगोष्ठी की आयोजक संस्था द्वारा प्रो० मधुसूदन ढांकी को श्रीहेमचन्द्राचार्यचन्द्रक भी प्रदान किया गया।

मुनिश्री अजयसागर जी म०सा० के विशेष अनुरोध पर प्रो० सागरमल जैन दि०१२/४/९९ को **श्री महावीर जैन आराधना केन्द्र,** कोबा पधारे, जहाँ संस्था की ओर से आपका सम्मान किया गया वहाँ आपने विद्वान् मुनिजनों व संस्थान के अधिकारियों के समक्ष जैन धर्म-दर्शन के शोध की प्रक्रिया के सम्बन्ध में महत्त्वपूर्ण व्याख्यान दिया।

चेन्नई में अक्षय तृतीया का समारोह सम्पन्न

चेन्नई १९ अप्रैल : पूज्य श्री सुमन कुमार जी० म०सा० ठाणा ३ तथा महासती श्री कौशल्या कुमारी जी म०सा० एवं महासती श्री धर्मशीला जी म०सा० ठाणा-१० के पावन सानिध्य में स्थानीय जैन भवन में अक्षय तृतीया का समारोह सानन्द सम्पन्न हुआ। इस अवसर पर महासती कौशल्या कुमारी जी द्वारा लिखित दो पुस्तकों का विमोचन भी हुआ तथा महावीर फाउन्डेशन फॉर हेन्डीकेप द्वारा स्थानीय शासकीय चिकित्सालय को ५१ हजार रुपये प्रदान किये गये और हर मास १० पोलियोग्रस्त लोगों की निःशुल्क शल्य चिकित्सा कराने की घोषणा की गयी।

महावीर पुरस्कार १९९९ एवं पूरणचन्द रिद्धिलता लुहाड़िया साहित्य पुरस्कार १९९९ के लिये रचनायें आमंत्रित

श्री दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र, महावीर जी द्वारा संचालित जैन विद्या संस्थान, श्री महावीर जी के वर्ष १९९९ के महावीर पुरस्कार के लिये जैन धर्म-दर्शन, इतिहास, साहित्य, संस्कृति आदि से सम्बन्धित किसी भी विषय की पुस्तक या शोध-प्रबन्ध की चार-चार प्रतियाँ दिनांक ३० सितम्बर १९९९ तक आमंत्रित की जा रही हैं। प्रथम स्थान प्राप्त कृति को महावीर पुरस्कार ११००१/- रुपये नकद एवं प्रशस्तिपत्र तथा

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

द्वितीय स्थान प्राप्त कृति को ब्र० पूरणचन्द रिद्धिलता लुहाड़िया साहित्य पुरस्कार ५००१/- रुपये एवं प्रशस्ति-पत्र प्रदान किया जायेगा।

३१ दिसम्बर १९९५ के बाद प्रकाशित पुस्तकें ही इसमें सम्मिलित की जा सकती हैं। अप्रकाशित कृतियों की टंकित या फोटोस्टेट की हुई तीन प्रतियाँ जो जिल्द बंधी हों, भेजनी आवश्यक है। नियमावली तथा आवेदन-पत्र का प्रारूप प्राप्त करने के लिये निम्न पते पर पत्र व्यवहार करें—

जैन विद्या संस्थान कार्यालय, दिगम्बर जैन नसियां भट्टारक जी, सवाई मानसिंह रोड, जयपुर, ३०२००४ (राज०)।

वर्ष १९९८ का महावीर पुरस्कार डॉ० रतनचन्द जैन, भोपाल को उनकी नवप्रकाशित कृति **जैन दर्शन में निश्चय और व्यवहारनय : एक अनुशीलन** तथा ब्र० पूरणचन्द रिद्धिलता लुहाड़िया पुरस्कार पं० निहाल चन्द जैन को उनकी कृति **नैतिक आचरण** पर १.४.९९ को महावीर जयन्ती के अवसर पर प्रदान किया गया।

स्वयंभू पुरस्कार १९९९ के लिये कृतियाँ आमन्त्रित

दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र, श्री महावीर जी द्वारा संचालित अपभ्रंश साहित्य अकादमी, जयपुर के वर्ष १९९९ के **स्वयंभू पुरस्कार** के लिए अपभ्रंश साहित्य से सम्बन्धित विषय पर हिन्दी या अंग्रेजी में लिखित कृतियों की चार प्रतियाँ ३० सितम्बर १९९९ तक आमंत्रित हैं। इस पुरस्कार में ११००१/- रुपये नकद एवं प्रशस्ति-पत्र प्रदान किया जायेगा।

३१ दिसम्बर १९९४ से पूर्व की प्रकाशित तथा पहले से पुरस्कृत कृतियाँ इसमें सम्मिलित नहीं की जायेंगी। अप्रकाशित कृतियों की ३-३ प्रतियाँ टंकण या फोटोस्टेट की हुई तथा जिल्द बंधी भेजनी आवश्यक है। पुस्तकें संस्थान की सम्पत्ति होंगी और वे लौटाई नहीं जायेंगी।

नियमावली तथा आवेदन-पत्र का प्रारूप प्राप्त करने के लिये अकादमी कार्यालय दिगम्बर जैन नसियां भट्टारक जी, सवाई मानसिंह रोड, जयपुर ३०२००४ से पत्र-व्यवहार करें।

वर्ष १९९८ का स्वयंभू पुरस्कार डॉ० सुरेन्द्र कुमार जैन 'भारती' को उनकी कृति **पासणाहचरिउ : एक समीक्षात्मक अध्ययन** पर दिनांक १.४.९९ को महावीर जयन्ती के अवसर पर प्रदान किया गया।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जैन दर्शन में निश्चय और व्यवहारनय : एक अनुशीलन महावीर पुरस्कार १९९८ से सम्मानित

पार्श्वनाथ विद्यापीठ के लिये यह अत्यन्त हर्ष और गौरव का विषय है कि प्रो० सागरमल जी जैन के प्रधान सम्पादकत्त्व में पार्श्वनाथ विद्यापीठ ग्रन्थमाला के अन्तर्गत १९९७ ई० में प्रकाशित और जैन धर्म-दर्शन के सुप्रसिद्ध विद्वान्, प्रखर चिन्तक डॉ० रतनचन्द जैन द्वारा लिखित ग्रन्थ **जैनदर्शन में निश्चय और व्यवहारनय : एक अनुशीलन** को जैन विद्या संस्थान, अतिशय क्षेत्र, महावीर जी (राज०) द्वारा ग्यारह हजार एक रुपये के महावीर पुरस्कार १९९८ से सम्मानित किया गया है। ज्ञातव्य है कि विद्यापीठ द्वारा अब तक प्रकाशित शताधिक ग्रन्थों में से अनेक ग्रन्थरत्न विभिन्न पुरस्कारों से सम्मानित हो चुके हैं। पार्श्वनाथ विद्यापीठ परिवार डॉ० रतनचन्द जी जैन की इस ऐतिहासिक उपलब्धि पर उनका हार्दिक अभिनन्दन करता है।

विद्यापीठ के प्रांगण में

Dr. Charlotte Krause : Her Life & Literature के लोकार्पण समारोह का आयोजन

प्रो० सागरमल जैन की प्रेरणा एवं श्रावकरत्न, सुप्रसिद्ध श्रेष्ठी श्री हजारीमल जी बांठिया के सक्रिय सहयोग से पार्श्वनाथ विद्यापीठ द्वारा भारतीय साहित्य विशारदा डॉ० शार्लोटे क्राउझे उर्फ सुभद्रा देवी द्वारा लिखित जैन धर्म-दर्शन एवं इतिहास से सम्बन्धित विभिन्न शोधपत्रों एवं ग्रन्थों के पुनर्प्रकाशन की परियोजना २ वर्ष पूर्व प्रारम्भ की गयी थी। इस परियोजना के अन्तर्गत प्रथम खण्ड के रूप में प्रकाशित **Dr. Charlotte Krause : Her Life & Literature** का लोकार्पण समारोह १८ मई को विद्यापीठ के परिसर में किया गया है। डॉ० रीनेट शर्मा— वरिष्ठ प्रवक्ता, जर्मन भाषा विभाग, अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय द्वारा उक्त ग्रन्थ का लोकापर्ण सम्पन्न हुआ। समारोह की अध्यक्षता श्री तनसुखराज डागा, अध्यक्ष— वीरायतन (राजगीर) ने की। इस अवसर पर प्रो० रमेशचन्द्र शर्मा— निदेशक, भारत कला भवन, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, प्रो० आर०एस०शर्मा, संस्कृत विभाग, अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय, श्री हजारीमल बांठिया तथा बड़ी संख्या में स्थानीय विद्वानों ने भाग लिया।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

शोक समाचार

विश्वविभूति श्री शशि भाई का महाप्रयाण

अध्यात्मयोगी पू० गुरुदेव श्री कानजीस्वामी एवं प्रशममूर्ति पू० श्री चंपाबहेनके अंतेवासी, अध्यात्म के ज्ञाता एवं अनुभवदृष्टि सम्पन्न पू० भाई श्री शशि का दिनांक २२.३.१९९९ को प्रात:काल ४.१५ बजे आत्मसमाधिपूर्वक महाप्रयाण हुआ। सूक्ष्म अन्तरंग अनुभवदृष्टि सम्पन्न, ज्ञानीपुरुषों के प्रति एवं देव-शास्त्र-गुरु के प्रति असीम भक्ति के धारक, जिनवाणी के परमभक्त, जैन दर्शन के स्तम्भ ऐसे पू० 'भाईश्री' - एक विरल और बेजोड़ व्यक्तित्व हमारे बीच आज नहीं रहे।

दिनांक २३.३.१९९९ को सुबह उनके निवासस्थान से शवयात्रा निकली जो भावनगर के मुख्य-मुख्य स्थानों से होती हुई श्री विमलभाई तंबोळी की वाड़ी जा कर समाप्त हुई और वहाँ पर उनके नश्वर देह का अन्तिम संस्कार किया गया। उनके निधन का समाचार प्राप्त होते ही बम्बई, कलकत्ता, कोबा, मद्रास, कोयम्बटूर, सुरत, अहमदाबाद आदि स्थानों से सैकड़ों मुमुक्षुवृन्द पहुँच गये थे। विशाल मुमुक्षु समुदाय के साथ निकली उनकी शवयात्रा में भक्ति एवं जिनेन्द्र भगवान् के जय-जयकार के साथ उनके स्नेहीजन, शहर के उद्योगपति, अन्य विद्वानों एवं जनसमुदाय ने भाग लिया।

दिनांक २४..३.१९९९ के दिन सत्संग के बाद उनके प्रति श्रद्धानिष्ठ समस्त मुमुक्षुओं ने उनके दर्शाये हुए मार्ग पर चलने का दृढ़ संकल्प किया। इस मार्ग की प्रभावना हेतु रु० ८० लाख की दान-राशि की घोषणा भिन्न-भिन्न कार्यों के लिये हुई। श्री सत्श्रुत प्रभावना ट्रस्ट द्वारा पूज्य भाईजी की स्मृति में १० वर्षीय बृहद् योजना भी प्रस्तुत की गयी है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आचार्य सम्राट श्री देवेन्द्र मुनि जी महाराज का महाप्रयाण

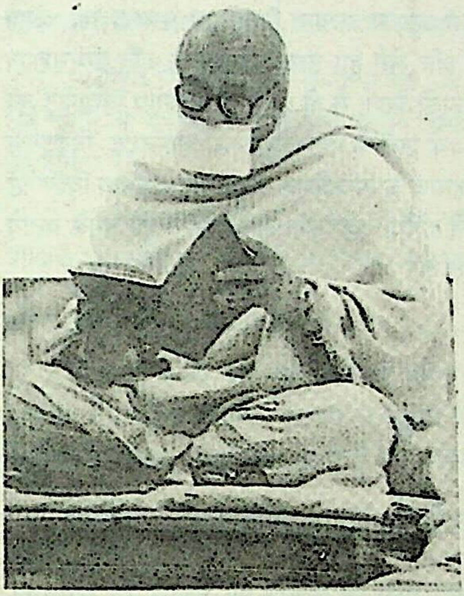

श्रमण संघ के तृतीय पट्टधर आचार्य सम्राट श्री देवेन्द्रमुनि जी महाराज का दि० २६ अप्रैल १९९९ को प्रातःकाल मुम्बई मे मात्र ६८ वर्ष की आयु में निधन हो गया। आप पिछले कुछ समय से हृदयरोग से पीड़ित थे। वर्ष १९९८ का इन्दौर का ऐतिहासिक चातुर्मास पूर्णकर आपश्री मुम्बई पधारे थे। आपके निधन का समाचार सुनते ही सर्वत्र शोक की लहर फैल गयी और देश के कोने-कोने से बहुत बड़ी संख्या में भक्तजन आपश्री के अन्तिम दर्शनार्थ पहुँचने लगे। आपके अन्तिम दर्शन हेतु जैनधर्म के सभी सम्प्रदायों के लगभग २५० साधु-साध्वी तथा विशाल संख्या में जैनधर्मानुयायी उमड़ पड़े।

जैन तत्त्व विद्या के सुप्रसिद्ध लेखक, सतत अध्ययनशील एवं चिन्तन-मनन में लीन आचार्यश्री से सम्पूर्ण देश सुपरिचित है। वि०सं० १९८८ ई०स० १९३२ में उदयपुर में जन्मे श्री देवेन्द्रमुनि जी मात्र ९ वर्ष की लघु आयु में पूर्व संस्कारों से प्रेरित होकर राजस्थानकेशरी उपाध्यायश्री पुष्करमुनि जी महाराज के पास दीक्षित हो गये। अपने तीक्ष्ण प्रतिभा व व्युत्पन्न मेधा के बल से अल्पकाल में ही आपने संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश आदि भाषाओं तथा दर्शन, न्याय, इतिहास व आगम साहित्य का तलस्पर्शी अध्ययन किया।

जैनदर्शन, इतिहास, आगम साहित्य, योग आदि विषयों पर जहाँ आपने शोधप्रधान ग्रन्थों की रचना की है वहीं जीवन चरित्र, कथा साहित्य, उपन्यास, रूपक आदि विविध विषयों पर भी आपने अपनी लेखनी चलायी है। छोटी-बड़ी लगभग ३५० ग्रन्थों का लेखन-सम्पादन कर आपने इस क्षेत्र में एक नया कीर्तिमान स्थापित किया।

आचार्यश्री के आकस्मिक देहावसान से न केवल जैन समाज अपितु विश्व ने अपना प्रखर चिन्तक, महान् समाजसुधारक और शान्ति का मसीहा खो दिया है। समाज

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

के नैतिक उत्थान के लिये आप सतत् प्रयत्नशील रहे। आपश्री के उपदेश बड़े ही मार्मिक होने से हृदयग्राही होते थे। अभी कुछ वर्ष पूर्व आपने तिहाड़ जेल में बंदियों के बीच बड़ा ही मार्मिक प्रवचन दिया था।

पार्श्वनाथ विद्यापीठ के निदेशक प्रो०सागरमल जी जैन और विद्यापीठ की संचालक समिति के पदाधिकारियों से आपका अत्यन्त निकट का सम्बन्ध रहा। आप सदैव विद्यापीठ की गतिविधियों में रुचि लेते हुए उसके विकास के प्रति प्रयत्नशील रहे। अभी पिछले वर्ष नवम्बर में आपकी प्रेरणा से ही इन्दौर में पार्श्वनाथ विद्यापीठ की एक शाखा का शुभारम्भ हुआ है। २०वीं शती के महान् विचारक, शान्तिदूत, विद्वद्रत्न आचार्य सम्राट श्रीदेवेन्द्र मुनि जी महाराज के आकस्मिक निधन पर पार्श्वनाथ विद्यापीठ परिवार अश्रुपूरित नेत्रों से उन्हें अपनी हार्दिक श्रद्धांजलि अर्पित करते हुए उनके बताये हुए मार्ग पर चलने का संकल्प लेता है।

●

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पार्श्वनाथ विद्यापीठ द्वारा निबन्ध-प्रतियोगिता का आयोजन

उद्देश्य

पार्श्वनाथ विद्यापीठ नवयुवकों के बौद्धिक विकास एवं जैनधर्म दर्शन के प्रति उनकी जागरूकता को बनाये रखने के लिए एक निबन्ध प्रतियोगिता का आयोजन कर रहा हैं।

पार्श्वनाथ विद्यापीठ लम्बे समय से यह अनुभवं कर रहा था कि लोगों को जैन-धर्म दर्शन की यथार्थ जानकारी होनी चाहिये, क्योंकि जैन दर्शन में विश्व दर्शन बनने की क्षमता है।

इस निबन्ध प्रतियोगिता का एक उद्देश्य यह भी है कि लोगों में पठन-पाठन एवं शोध के प्रति रुचि पैदा की जाय, जो विचारों के आदान-प्रदान के माध्यम से ही सम्भव है।

कौन प्रतियोगी हो सकते हैं

कोई भी व्यक्ति चाहे वह किसी भी धर्म, जाति, सम्प्रदाय का हो या किसी भी उम्र का हो, इस प्रतियोगिता में भाग ले सकता है। पार्श्वनाथ विद्यापीठ के कर्मचारियों एवं उनके निकट सम्बन्धियों के लिये यह प्रतियोगिता प्रतिबन्धित हैं।

विषय : २१वीं शताब्दी में जैनधर्म की प्रासंगिकता

आयुवर्ग के आधार पर निबन्ध के लिए निर्धारित पृष्ठ संख्या

१. १८ वर्ष तक - डबल स्पेस में फुलस्केप साइज में टङ्कित (Typed) पूरे चार पेज।

२. १८ वर्ष के ऊपर — डबल स्पेस में फुलस्केप साइज में टङ्कित (Typed) पूरे आठ पेज।

पुरस्कार

निर्णायक मण्डल द्वारा चयनित प्रतियोगियों को निम्नानुसार पुरस्कार देय होगा—

१.	१८ वर्ष तक के प्रतियोगी के लिए :	प्रथम पुरस्कार	२५०० रु.
		द्वितीय पुरस्कार	१५०० रु.
		तृतीय पुरस्कार	१००० रु.
२.	१८ वर्ष के ऊपर के प्रतियोगी के लिए :	प्रथम पुरस्कार	२५०० रु.
		द्वितीय पुरस्कार	१५०० रु.
		तृतीय पुरस्कार	१००० रु.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रतियोगिता की भाषा

निबन्ध हिन्दी या अंग्रेजी दोनों भाषाओं में हो सकते हैं।

चयन की प्रक्रिया के निर्धारित मानदण्ड

१. निबन्ध की गुणवत्ता, विचारों की स्पष्टता एवं उनका सम्यक् प्रस्तुतिकरण।

२. निबन्ध में अपने कथन का सप्रमाण प्रस्तुतीकरण एवं आवश्यक स्थलों पर मूल ग्रन्थों से सन्दर्भ

३. भाषा का स्तर।

निर्णायक मण्डल

१. प्रोफेसर सागरमल जैन : जिनशासन-गौरव, जैन धर्म-दर्शन के अन्तर्राष्ट्रीय ख्यातिप्राप्त विद्वान् एवं वाराणसी स्थित पार्श्वनाथ विद्यापीठ के मानद् निदेशक, राष्ट्रीय स्तर की अनेक सङ्गोष्ठियों में प्रतिभागी। जैन धर्म-दर्शन की ३० से अधिक पुस्तकों तथा १५० से अधिक शोधनिबन्धों के लेखक। आपके निर्देशन में ३० से अधिक शोधच्छात्रों ने पी-एच्०डी० की उपाधि प्राप्त की है।

२. प्रोफेसर सुदर्शनलाल जैन : जैन धर्म-दर्शन के विश्वविश्रुत विद्वान्, सम्प्रति काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में संस्कृत विभाग में प्रोफेसर, जैन धर्म पर अनेक पुस्तकों के लेखक, राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय स्तर की अनेक सङ्गोष्ठियों में प्रतिभागी। आपके निर्देशन में १५ से अधिक शोधच्छात्रों ने पी-एच्०डी० की उपाधि प्राप्त की है।

३. डॉ० धर्मचन्द जैन : जैन धर्म-दर्शन के प्रख्यात विद्वान्, सम्प्रति जयनारायण व्यास विश्वविद्यालय, जोधपुर में संस्कृत-विभाग में रीडर, जैन-न्याय के गहन अध्येता एवं जैन धर्म पर कतिपय विशिष्ट ग्रन्थों के लेखक।आपके निर्देशन में ६ से अधिक छात्रों ने पी-एच्०डी० की उपाधि प्राप्त की है।

चयन-प्रक्रिया

१. भेजे गये निबन्ध पार्श्वनाथ विद्यापीठ को दिनांक ३० जून, १९९९ तक स्वीकृत होंगे। समस्त निबन्धों की फोटो कॉपी बनायी जायेगी तथा प्रतियोगियों के उम्र वर्ग के आधार पर उन्हें एक विशिष्ट कोड नं० दिया जायेगा।

२. निबन्धों की फोटो प्रतियाँ (बिना लेखक के नाम के) जिनमें कोड नं० अंकित होगा, प्रत्येक निर्णायक को भेजी जायेगी।

३. निर्णायकों द्वारा अंकित निबन्ध प्राप्त होने पर उनमें क्रमशः प्रथम, द्वितीय एवं तृतीय पुरस्कार के लिए चयनित प्रतियोगियों की घोषणा की जायेगी।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

४. विजेता प्रतियोगियों के निबन्धों को पार्श्वनाथ विद्यापीठ से प्रकाशित होने वाली शोध-पत्रिका **श्रमण** में सन् २००० के प्रथम अङ्क में प्रकाशित किया जायेगा।

५. विजेता प्रतियोगी को पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी में एक सादे समारोह के अन्तर्गत सम्मानित किया जायेगा।

नोट : कृपया निबन्ध के साथ अपनी पासपोर्ट साइज की फोटो एवं हाईस्कूल सर्टिफिकेट की फोटो प्रति (Photo Copy) तथा एक सादे कागज पर अपने पूरे पते सहित अपनी शैक्षिक योग्यता का विवरण अवश्य भेजें।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Statement About the Ownership & Other Particulars of the Journal

ŚRAMAṆA

1.	Place of Publication	:	Parśvanātha Vidyāpītha I.T.I. Road, Karaundi, Varanasi-5
2.	Periodicity of Publication	:	Quarterly.
3.	Printer's Name, Nationality and Adrress	:	Vardhaman Mudranalaya Bhelupur, Varanasi-10. Indian.
4.	Publisher's Name, Nationality and Address	:	Parśvanātha Vidyāpītha I.T.I. Road, Karaundi, Varanasi-5. Indian
5.	Editor's Name, Nationality and Address	:	Dr. Sagar Mal Jain Dr. Shiva Prasad As above.
6.	Name and Address of Individuals who won the Journal and Partners or share-holders holding more than one percent of the total capital.	:	Parśvanātha Vidyāpītha Guru Bazar, Amritsar. (Registered under Act. XXI as 1860)

I, Dr. Sagar Mal Jain hereby declare that the particulars given above are true to the best of my knowledge and belief.

Dated : 1.4.99

Signature of the Publishers
S/d Dr. Sagar Mal Jain
Shiva Prasad

Computer Composing by : Sarita Computers, Aurangabad.
Varanasi, 221010, Ph. 359521.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

NO PLY,
NO BOARD, NO WOOD.

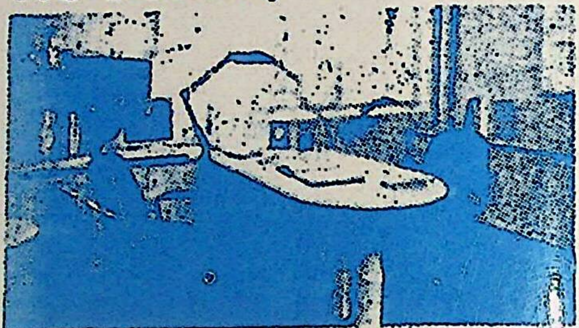

ONLY NUWUD.®

INTERNATIONALLY ACCLAIMED

Nuwud MDF is fast replacing ply, board and wood in offices, homes & industry. As ceiling,

DESIGN FLEXIBILITY

flooring, furniture, mouldings, panelling, doors, windows... an almost infinite variety of

VALUE FOR MONEY

woodwork. So, if you have woodwork in mind, just think NUWUD MDF.

Arms Communications

NUCHEM LIMITED

E-46/12, Okhla Industrial Area,
Phase II, New Delhi-110 020
Phones : 632737, 633234,
6827185, 6849679
Tlx: 031-75102 NUWD IN
Telefax: 91-11-6848748

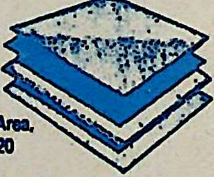

NUWUD MDF

The one wood for all your woodwork

MARKETING OFFICES: • AHMEDABAD: 440672, 469242 • BANGALORE: 2219219 • BHOPAL: 552760 • BOMBAY: 8734433, 4937522, 4952648 • CALCUTTA: 270549 • CHANDIGARH: 603771, 604463 • DELHI: 632737, 633234, 6827185, 6849679 • HYDERABAD: 226607 • JAIPUR: 312636 • JALANDHAR: 52810, 221087 • KATHMANDU: 225504, 224904 • MADRAS: 8257589, 8275121

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi